फिर जो राहुके मुखसे मुक्त । चंद्र-प्रभा चंद्रसे आलिंगित ।
वैसे शुद्ध बुद्धि करती प्राप्त । अपने ही रूपको ॥ १२ ॥

जैसे दोनों कुलको तजकर । प्रिया प्रियमें रत निरंतर ।
वैसे द्वंद्व चिंतन तजकर । करती स्वचिंतन ॥ १३ ॥

वैसेही ज्ञान जैसे जीवन । विषयोंमें ले जा अनुदिन ।
इंद्रियोंसे किये बडे जान । शब्दादिक जो ॥ १४ ॥

दूर होते ही रश्मि जाल । मिट जाता है मृगजल ।
वैसे ही धृतिसे निर्मल । किये पांचोंही ॥ १५ ॥

खाया हुवा जो अधमान्न । करते हैं जैसे वमन ।
इंद्रियोंसे ऐसे वासना । सह किया विजय ॥ १६ ॥

आत्माकार वह वृत्ति फिर । लगाके गंगाके तट पर ।
प्रायश्चित्त किया जो धोकर । शुद्धिकारक ॥ १७ ॥

तब उसने सात्विक दृष्टिसे । विशुद्ध किये हुए इंद्रियोंसे ।
मन सह योग-धारणासे । लगाई वह ॥ १८ ॥

वैसे ही प्राचीन इष्टानिष्ट । होती है भोगोंसे जब भेंट ।
आयी हुई कटुतासे रुष्ट । होते नहीं कभी ॥ १९ ॥

या मिले सुंदर विषय । प्रारब्धवश धनंजय ।
न करते उस समय । अभिलाषा भी ॥ १०२० ॥

ऐसे इष्टानिष्टमें पार्थ । रागद्वेगसे हो रहित ।
वन गिरि-गुहामें नित । करते वास ॥ २१ ॥

साधनावस्थाका विवेचन—

भीड भाड तजकर । वनस्थलमें जाकर ।
अंगों सह धनुर्धर । रहता आप ॥ २२ ॥

शम-दमादिकोंसे खेलना । सदा मौनसे ही है बोलना ।
गुरु-वचनोंमें बिताना । समय सारा ॥ २३ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

शरीरमें वल रहना । अथवा भूखको मिटाना ।
या जीभके पूर्ण करना । मनोरथ सारे ॥ २४ ॥

करनेमें वह भोजन । नहीं जानता है ये तीन ।
संतुष्ट होता है अल्पान्न । खाकर ही वह ॥ २५ ॥

आसनकी उष्णतासे । प्राणकी क्षति होनेसे ।
रहे प्राण जितनेसे । उतनाही खाना ॥ २६ ॥

जैसे पर-पुरुषकी इच्छा मान । न देती कुल-वधु अपना तन ।
वैसे ही निद्रालस्य दायक अन्न । खाता ही नहीं ॥ २७ ॥

दंडवत जब वह करता । तभी तन भूमिस्पर्श करता ।
वैसे ही भूमिपे वह नहीं पड़ता । अविचारसे कभी ॥ २८ ॥

शरीर निर्वाह हो अपना । उतने हाथ पैर हिलाना ।
ऐसे है अंतर्बाह्य अपना । संयम करता ॥ २९ ॥

तथा देख मनका चौखट । वृत्ति नही जाती निकट ।
वहां वाचाकी जो खटपट । रहती ही कहां ॥ १०३० ॥

ऐसे तन वचन मानस । जीतके सब बाह्य प्रदेश ।
आधीन करना है आकाश । ध्यानका उसको ॥ ३१ ॥

गुरु-वाक्यसे होता जो जागृत । उस वोधमें देखता निश्चित ।
दर्पणमें जैसे देखता पार्थ । अपना स्वरूप ॥ ३२ ॥

अपनेको ही है ध्यानस्थ । ध्यान-रूप वृत्तिमें पार्थ ।
ध्येयत्वसे लेता है नित । ध्यान प्रकार वह ॥ ३३ ॥

ध्यान ध्येय और ध्याता । होते हैं एकरूपता ।
तब तक पांडुसुता । करना ध्यान ॥ ३४ ॥

वाक् काय मनको जीत एकांत अल्प सेवन ।
दृढ वैराग्यसे युक्त डूबा जो ध्यान-योगमें ॥ ५२ ॥

इसीलिये जो है मुमुक्षु । आत्म-ज्ञानमें होता दक्ष ।
सदैव वह योग-पक्ष । लेकर रहता ॥ ३५ ॥

अपान रंध्रद्वय । बीचमें धनंजय ।
उसके जो है मध्य । एडीसे दबाके ॥ ३६ ॥

आकुंचन करना अध । करके तीन ही बंध ।
होते हैं जो वायुभेद । करना एक ॥ ३७ ॥

कुंडलिनीको जगाकर । अध्यात्मका विकासकर ।
आधारादिसे भेद कर । सहस्रार तक ॥ ३८ ॥

सहस्रदलका जो मेघ । पीयूष वर्षता सवेग ।
उसके मूल पर ओघ । ला करके ॥ ३९ ॥

नाचता रहता पुण्य गिरिपर । उस चैतन्य भैरवका खापर ।
मन-प्राण खिचडीसे भरकर । तदुपरांत ॥ १०४० ॥

योगाभ्यास दृढ होने पर । यह तीनों बंध आगे कर ।
किया है ध्यान पिछली ओर । ब्रह्म सिद्ध ॥ ४१ ॥

तथा योग और ध्यान । दोनों हो पूर्ण निर्वहन ।
आत्म-ज्ञानमें हो लीन । सो पहले ही ॥ ४२ ॥

वीतराग सरीखा । जोड़ रखा है सखा ।
वह सभी भूमिका । करता पार ॥ ४३ ॥

देखना जो है दीखने तक । साथ देना आंखोंको दीपक ।
तब न दीखेगी कहां तक । वह जो वस्तु ॥ ४४ ॥

ऐसे करता जो मोक्ष प्रवर्तन । ब्रह्ममें चित्त हो जाने तक लीन ।
साथ रहता है वैराग्य अर्जुन । उसका नाश कैसे ॥ ४५ ॥

इसीलिये है वैराग्य । ज्ञानाभ्यासका सौभाग्य ।
करके देता जो योग्य । आत्म-लाभ ॥ ४६ ॥

वैराग्यका कवच पहन कर । उससे जैसे वज्रांग बनकर ।
वह राजयोगके तुरंग पर । होता आरूढ ॥ ४७ ॥

फिर जो दृश्य दृष्टि-पथमें आता । उसमें जो छोटा बड़ा दीखता ।
उसे मिटाने ध्यान खड़ग धरता । विवेक मुष्टिमें ॥ ४८ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

ब्रह्म प्राप्ति पथके ये शत्रु—

ऐसे संसार-रणांगण पर । सूर्यसा जाता चीरता अंधार ।
मोक्षश्रीका बनने भर्तार । निर्भय होके ॥ ४९ ॥

वहां जो रोकने आता । उस वैरीको मारता ।
उसमें पहला होता । देहाहंकार ॥ १०५० ॥

मार कर वह नहीं छोड़ता । जन्म देकर जीने नहीं देता ।
पेंचमें डाल कुंठित करता । अस्थि पंजरके ॥ ५१ ॥

देह दुर्ग उसका सहारा । तोड कर लिया धनुर्धरा ।
तथा बल है यह दूसरा । मारा शत्रू ॥ ५२ ॥

विषयोंका नाम ही सुनकर । बढ़ जाता चौगुनेसे ऊपर ।
मृतावस्थामें यह धनुर्धर । पहुंचाता विश्वको ॥ ५३ ॥

वह है विषय-विषका गर्त । सब दोषोंका चक्रवर्ती पार्थ ।
किंतु कैसे ध्यान-खड्गका घात । सहेगा वह ॥ ५४ ॥

प्रिय विषय जब होते प्राप्त । उस सुखको कर अभिव्यक्त ।
वही आवरण डालके पार्थ । करता है गर्जना ॥ ५५ ॥

सन्मार्गको ही जो भुलाता । अधर्म वनमें फंसाता ।
बाघके मुखमें है देता । नरकादिक ॥ ५६ ॥

विश्वाससे मारता जो रिपु । निर्मम कर देता है दर्प ।
जिसके नामसे आता कंप । तपस्वियोंको ॥ ५७ ॥

बल दर्प अहंकार काम क्रोध परिग्रह ।
छोड़ कर स-ममत्व पाता है ब्रह्म शांतिसे ॥ ५३ ॥

क्रोध जैसा है महादोष । जिसका होता परिपाक ।
भरनेसे होता अधिक । रीता ही जो ॥ ५८ ॥

वह काम जिस स्थान पर । नष्ट होता उस स्थान पर ।
क्रोध भी सहज धनुर्धर । होता है नष्ट ॥ ५९ ॥

जड़ ही तोड़नेसे जैसे । शाखायें नष्ट होती वैसे ।
वैसे ही कामके नाशसे । नासता है क्रोध ॥ १०६० ॥

इसीलिये वैरी है जो काम । उसीका मिटाया जब नाम ।
मिटता जैसे गमनागम । क्रोधका भी ॥ ६१ ॥

जैसे अपना अड़गोड़ा समर्थ । अपराधीके सिरपे होता पार्थ ।
वैसे भोग देकर होता समर्थ । परिग्रह ॥ ६२ ॥

वैसे ही खुगीर सिरपे देता । अंगांगमें अवगुण भरता ।
जीवके हाथमें लकडी देता । ममत्वकी जो ॥ ६३ ॥

शिष्य-शास्त्रादि विलाससे । मठ मुद्रादि वहानेसे ।
डाले हैं जो इसने फांसे । असंगों पर भी ॥ ६४ ॥

घरमें कुटुंब रूपसे रहता । वनमें वन्य बन अवतरता ।
नग्न शरीरको भी चिपकता । पांडुकुमार ॥ ६५ ॥

अपरिग्रह जो ऐसा दुर्जय । उसपे भी पाकर विजय ।
भव विजयका धनंजय । आता उत्साह ॥ ६६ ॥

अमानित्वादि जो संपूर्ण । ज्ञानके होते सभी गुण ।
वैफल्य देशके प्रधान । होते हैं जैसे ॥ ६७ ॥

सम्यग्ज्ञानका राज्य अर्पण । करके वे सभी गुणगण ।
उसके परिवार भूषण । होके रहते हैं ॥ ६८ ॥

तब प्रवृत्तिके राज-पथमें । अवस्था-भेद प्रमदियां आपमें ।
दीठ उतारती प्रति-पगमें । अपने सुखकी ॥ ६९ ॥

बोधके दंडसे विवेक जब । दृश्योंकी भीड हठाता सब ।
योगकी भूमिका आके तब । आरती उतारती ॥ १०७० ॥

तब ऋद्धि सिद्धिके समुदाय । आते रहते समय समय ।
उस पुष्प-वृष्टिसे धनंजय । नहाता रहाता वह ॥ ७१ ॥

इस भांति ब्रह्मैक्यके समान । स्वराज्य आता है समीप जान ।
आनंदसे तीनों लोक अर्जुन । भर देता है ॥ ७२ ॥

शत्रु-मित्रभाव तव अर्जुन । नहीं रहता साम्यके कारण ।
न होता द्वंद्व अणु समान । उस समय ॥ ७३ ॥

यही नहीं किसी कारणसे । कभी कहें यह मेरा ऐसे ।
इतना द्वैत भी प्रतीतिसे । न जानता वह ॥ ७४ ॥

एक मात्र तब अपनी सत्ता । विश्व-व्यापी करके पांडुसुता ।
पास फटकने न देता ममता । इतना भी वह ॥ ७५ ॥

जीतकर ऐसा रिपुवर्ग । आप बन गया सारा जग ।
तब होगया तुरंत योग । वहां सुदृढ ॥ ७६ ॥

अपने पथके शत्रुओंको जीतनेके बाद—

फिर वैराग्यका आवरण । तनपे दृढ था जो अर्जुन ।
करता शिथिल कुछ क्षण । उस समय ॥ ७७ ॥

चलाने ध्यानकी जो तलवार । सम्मुख नहीं द्वैत धनुर्धर ।
तब होता है ध्यानका भी कर । कुछ शिथिल ॥ ७८ ॥

अथवा रसौषधि जैसे । अपना काम हो जानेसे ।
आप ही न रहती वैसे । उसी प्रकार ॥ ७९ ॥

जैसे है जहां पहुंचना होता । वह स्थान देख पैर रुकता ।
वैसे ब्रह्म-दर्शनसे होता । अभ्यास शिथिल ॥ १०८० ॥

जैसे सिंधुसे संपर्क आता । गंगाका वेग भी उतरता ।
या पतिसे मिलके स्थिरता । आती कामिनीमें ॥ ८१ ॥

अथवा आता है जब फल । बढ़ न सकता जब केल ।
या गांव आते जैसे केवल । रुकता मार्ग ॥ ८२ ॥

वैसे ही आत्म-साक्षात्कार । होता है यह देख कर ।
साधनाका जो हथियार । रखता नीचे ॥ ८३ ॥

इसीलिये ब्रह्मसे उसका । समय आने पर ऐक्यका ।
शिथिल होता है साधनोंका । वेग पार्थ ॥ ८४ ॥

वैराग्यका फिर है तिरोधान । नानाभ्यासका वार्धक्य अर्जुन ।
योग फलका परिपाक जान । दशा है जो ॥ ८५ ॥

तब वह शांति मान पांडुसुता । उसके अंगांगमें आती पूर्णता ।
ब्रह्मत्व पाके योग्य है वह होता । पुण्य-पुरुष ॥ ८६ ॥

पूर्णिमासे जैसे चतुर्दशी । अल्पत्वमें रहता है शशी ।
या सोलहवे कससे जैसे । पंद्रह होता अल्प ॥ ८७ ॥

सागरमें जाता पानी वेगसे । वह होता गंगौघका जैसे ।
तथा जो निश्चलतासे । रहता सिंधुका ॥ ८८ ॥

ब्रह्म या ब्रह्मत्वके निकट । व्यक्ति होता उसमें सुभट ।
ऐसा अंतर जो वह काट । पाता ब्रह्मत्व ॥ ८९ ॥

परंतु ऐसे हुए बिन । प्रतीत होता ब्रह्मपन ।
वही ब्रह्म होनेकी जान । योग्यता है वहां ॥ १०९० ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

वह ब्रह्म-भाव योग्यता । पुरुष फिर पांडुसुता ।
आत्म-बोधकी प्रसन्नता । पद पाता है ॥ ९१ ॥

जिस तापसे होता है पाक । वह जाता पकनेपे पाक ।
फिर जैसे आल्हाद कारक । होता है वह ॥ ९२ ॥

अनेक प्रवाह जैसे लगभग । शरत्कालमें तजते है गंग ।
अथवा गीत होनेपे उपांग । रुकते जैसे ॥ ९३ ॥

हुवा ब्रह्म प्रसन्नात्मा कामना शोकके बिन ।
पाता मेरी परा भक्ति देखती साम्य जो कहीं ॥ ५४ ॥

आत्म-बोधमें ऐसा उद्यम । करते हुए होता है श्रम ।
उसका भी हो जाता है शम । जिस स्थानपे ॥ ९४ ॥

आत्म-बोध प्रसन्नता । कहलाती वह पार्था ।
उसका है भोग लेता । योग-साधक ॥ ९५ ॥

ब्रह्म-प्राप्तिके समयका विवेचन—

उस स्थितिमें शोक करना । किसी वस्तुकी इच्छा करना ।
डूबती यह सब भावना । साम्य-पूरमें ॥ ९६ ॥

उदय होते ही गभस्ति । नक्षत्र-मंडलकी व्यक्ति ।
लोपती है उसकी दीप्ति । जिस प्रकार ॥ ९७ ॥

उदय होते ही आत्म-प्रभा । जो सारी भूत भेद व्यवस्था ।
तोड़ते हुए वह देखता । अपनारूप ॥ ९८ ॥

पाटी पे लिखे अक्षर । जैसे पोंछते हैं कर ।
वैसे खोते भेदांतर । उसकी दृष्टिमें ॥ ९९ ॥

वैसे ही जो अन्यथा ज्ञान । दिखाता जागृति स्वप्न ।
वे दोनों क्रियायें हैं लीन । अज्ञानमें ॥ ११०० ॥

फिर वह भी अज्ञान । बोध बढते ही लीन ।
उस बोधमें संपूर्ण । डूबता है ॥ १ ॥

जैसे भोजनके समय । क्षुधा क्षीणती धनंजय ।
वैसे ही तृप्तिके समय । होती है अस्त ॥ २ ॥

जैसे वेग बढ़ता जाता । वैसे मार्ग घटता जाता ।
फिर जब गंतव्य आता । डूबता मार्ग ॥ ३ ॥

या जागृतिका होता उद्दीपन । निद्रा क्षीण होते जाती अर्जुन ।
वैसे ही पूर्ण जागृतिमें मान । निद्राका अंत ॥ ४ ॥

या अपना पूर्णत्व मिलता । चंद्रका बढ़ना ही मिटता ।
शुक्ल-पक्षका भी अंत आता । तब निःशेष ॥ ५ ॥

जैसे सभी पदार्थ-ज्ञान । निगल जाता मेरा ज्ञान ।
तब वह संपूर्ण ज्ञान । अज्ञान निगलता ॥ ६ ॥

जैसे कल्पांतके समय । नदी सिंधुके समुदाय ।
एक होकर धनंजय । जल होता आब्रह्म ॥ ७ ॥

या मिटकर नाना घटाकाश । एक हो जाता है महदाकाश ।
या काष्ठोंसे जलके काष्ठ शेष । रहता है अग्नि ॥ ८ ॥

अथवा भूषणके आकार । आंचमें सभी पिघलकर ।
सारा नाम रूप मिटाकर । होता है सुवर्ण ॥ ९ ॥

अथवा होते ही जागृत । हो जाता है स्वप्नका अस्त ।
फिर जैसे आपही पार्थ । रह जाता है ॥ ११० ॥

वैसे ही मुझ एकको छोडकर । न उसे अपने सह कुछ और ।
कहाती जो चौथी भक्ति धनुर्धर । पाता है वह ॥ ११ ॥

जहां आर्त जिज्ञासू अर्थार्थी । जिस मार्गसे करते भक्ति ।
इसे देख मैं कहता चौथी । भक्ति इसको ॥ १२ ॥

वैसे नहीं पहली या चौथी । दूसरी तीसरी इस भांति ।
किंतु जो मेरी सहज स्थिति । भक्ति नाम उसका ॥ १३ ॥

मेरे अज्ञानका प्रकाशन । दिखाके मेरा अन्यथा ज्ञान ।
सबको सर्वत्र ही भजन । सुझाती है ॥ १४ ॥

जहां जो जैसे देखता वैसे । उसे वहां रहता है वैसे ।
दीखता मेरे चित्प्रकाशसे । यह अखंड ॥ १५ ॥

स्वप्नका दीखना या न दीखना । अपने अस्तित्वपे होना जाना ।
जिससे विश्वका होना या न होना । प्रकाशना वैसे ॥ १६ ॥

ऐसा यह मेरा सहज । प्रकाश जो है कपिध्वज ।
वह भक्ति नामसे आज । कहा जाता है ॥ १७ ॥

इसीलिये आर्तोंमें जैसे । बनके उत्कट इच्छासे ।
अपेक्षणीय जो है उसे । भाता मैं ही ॥ १८ ॥

।जज्ञासूक सन्मुख वीरेशा । इसी भांति होकर जिज्ञासा ।
मैं ही मानो जिज्ञास्यु है ऐसा । दिखाया गया है ॥ १९ ॥
ऐसे ही बनकर अर्थना । मैं ही मेरे अर्थार्थ अर्जुना ।
करके तब अर्थाभिधाना । लाता मुझको ही ॥ ११२० ॥
ऐसे ही अज्ञानका कर स्वीकार । करते भक्तिमें मेरा व्यवहार ।
दिखाती भक्ति दृश्य-रूप लेकर । मुझ द्रष्टाको ही ॥ २१ ॥
मुखको दीखता वहां मुख । इस बोलनेमें नहीं चूक ।
झूठा द्वैत दिखाता है देख । दर्पण यहां ॥ २२ ॥
चंद्रको ही देखते हैं नेत्र । तिमिर करता यही मात्र ।
दिखाता रहता है सर्वत्र । एकका होकर ॥ २३ ॥
सर्वत्र ऐसे मुझको मैं अर्जुन । भक्तिसे होता रहता आकलन ।
किंतु है दृश्यत्व अज्ञान कारण । व्यर्थका यहां ॥ २४ ॥
मिटा अब वह सब अज्ञान । मेरा द्रष्टृत्व मुझे मिला मान ।
निज-बिंबमें हुवा है विलीन । प्रतिबिंब जैसे ॥ २५ ॥
सोनेमें जब मिला रहता मल । तब भी सोना रहता है अचल ।
किंतु जल करके वह केवल । रहता सोना ही ॥ २६ ॥
अजी ! पूर्णमासिके पहले कहीं । चंद्रमा सावयव होता या नहीं ।
पूर्णचंद्र देखने मिलता यहीं । पूर्णमासीको ॥ २७ ॥
वैसे मैं अन्यथा ज्ञानसे । दीखता हूं भिन्न रूपसे ।
वह द्रष्टृत्वमें खोनेसे । मुझे मैं भेटता ॥ २८ ॥
तभी दृश्यपथातीत । मेरा यह पांडुसुत ।
भक्तियोग है चतुर्थ । कहा मैंने ॥ २९ ॥
ज्ञान-भक्तिसे जो सहजरूप । भक्त मुझमें लीन हुवा आप ।
वह केवल मैं हूं परंतप । जानता तू यह ॥ ११३० ॥

जो मैं हुवा नहीं उसके लिये मैं हूं ही नहीं—

मैंने ही हाथ उठाकर । ज्ञानी भक्त जो धनुर्धर ।
मेरा आत्मा इस प्रकार । कहा सातवेंमें ॥ ३१ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥ ५५ ॥

भक्ति जो कल्पादिमें मुझसे । उपदेश रूप जो ब्रह्मसे ।
कही गयी है उत्तम ऐसे । भागवतद्वारा ॥ ३२ ॥

ज्ञानी इसको स्व-संवित्ति । शैव कहते इसे शक्ति ।
तथा हम परम-भक्ति । कहते अपनी ॥ ३३ ॥

मुझसे मिलते हुए यह भक्ति । उस क्रमयोगियोंको है फलती ।
फिर समस्त विश्वको ही देखती । मेरे ही रूपमें ॥ ३४ ॥

वहां वैराग्य विवेकके साथ । मिटता है बंध मोक्ष समस्त ।
डूबती वृत्ति ध्यान सह पार्थ । उस समय ॥ ३५ ॥

चारों तत्त्वोंको निगलकर । रहता आकार मात्र धनुर्धर ।
नहीं रहता उसका ओर छोर । कल्पांतमें जैसे ॥ ३६ ॥

उस भांति होकर कूटस्थ । शुद्ध मैं साध्य साधनातीत ।
वह बनकर मुझे पार्थ । भोगता है ॥ ३७ ॥

बनकर सिंधुका अंग । सिंधुपे झलकती गंग ।
ऐसे रूपका उसका भोग । सुन तू यह ॥ ३८ ॥

या दर्पणको ही दर्पण । दिखाया मान तू अर्जुन ।
बढ़ता तब हृष्टापन । वैसे इस भोगमें ॥ ३९ ॥

जागृतका जब स्वप्न नाशता । अपना ही तब ऐक्य दीखता ।
जैसे जागृतिका ऐक्य भोगता । बिनाद्वैतके ॥ ११४० ॥

जाने दो जब दर्पण खोता । तब मुख-बोध भी ले जाता ।
मुख-सौंदर्य आप भोगता । अकेला जैसे ॥ ४१ ॥

वही होनेसे भोग उसका । न होता यह भाव जिसका ।
शब्दसे कैसे करें शब्दका । कह तू उच्चार ॥ ४२ ॥

भक्तिसे तत्त्वता जान कौन मैं कितना रहा ।
इस भांति मुझे जान मुझमें मिलते फिर ॥ ५५ ॥

किसके गांवमें दीपकसे । सूर्यको उजाला जाता कैसे ।
व्योमके लिये मांडव कैसे । उभारते न जाने ॥ ४३ ॥

अपनेमें नहीं जब राजपन । भोगेगा कैसा जी राजा राजपन ।
या अंधार करेगा आलिंगन । सूर्यसे कैसे ॥ ४४ ॥

अथवा जो नहीं है आकाश । वह जानेगा कैसे आकाश ।
गूंगचीका गहना विशेष । सोहेगा क्या रत्नोंमें ॥ ४५ ॥

इसीलिये जो मैं हुवा नहीं । उसके लिये मैं है ही नहीं ।
फिर भजेगा कैसे जो कोई । कह तू मुझसे ॥ ४६ ॥

अद्वैतमें क्रिया कर्म नहीं होता किंतु भक्ति होती है—

इसी लिये है वह क्रमयोगी । मैं बनकर मेरा भोगी ।
तारुण्य भोगती है तरुणांगी । उसी प्रकार ॥ ४७ ॥

तोय करता सर्वांगसे यदि चुंबन । प्रभा सर्वत्र विलसती है बिंब मान ।
नाना आकाश नभमें होकर विलीन । भोगते हैं जैसे ॥ ४८ ॥

वैसे है जो मेरा ही रूप होकर । अक्रिय भजता मुझे निरंतर ।
भोगता रहता जैसे अलंकार । स्वर्णको ही ॥ ४९ ॥

चंदनकी सुगंध जैसे । चंदन भोगती आपसे ।
या स्वाभाविक चंद्र जैसे । चंद्रिकाको ॥ ११५० ॥

ऐसे वह क्रिया नहीं सहता । अद्वैतमें भक्ति होती है पार्था ।
यह अनुभवसे जाना जाता । तोलनेसे नहीं ॥ ५१ ॥

तब पूर्व संस्कारके कारण । जो कुछ होता है यह भाषण ।
वह विनय सुन मैं अर्जुन । बोलता हूं ॥ ५२ ॥

शब्दको शब्द ही जब मिलता । बोलका व्यवहार नहीं होता ।
तब है मौन ही स्तवन होता । सुंदर मेरा ॥ ५३ ॥

इसीलिये जब वह बोलता । बोलने वालेसे मैं हूं मिलता ।
तब मौनसे ही वह तत्वता । स्तवता मुझको ॥ ५४ ॥

वैसे ही बुद्धि हो अथवा दृष्टि । जिसे देखना चाहती किरीटी ।
उस दृष्टिको ही हराके दृष्टि । दिखाती अपनेको ॥ ५५ ॥

दर्पणके पहले अपना मुख । देखनेवाला ही देखता देख ।
उसीको दर्पणमें वही देख- । सकता है जैसे ॥ ५६ ॥

वैसे दृश्य मिटकर दृष्टा । जैसे मिलता दृष्टासे दृष्टा ।
वैसे अकेलेमें नहीं मिटा । दृष्टापन कभी ॥ ५७ ॥

जैसे स्वप्नकी प्रियाको मान । जगके करना आलिंगन ।
रहता है आपही अर्जुन । प्रियाप्रिय मिलके ॥ ५८ ॥

या दो लकडियोंका घर्षण । उससे उठता अग्निकण ।
दोकी भाषा मिटाके अर्जुन । रहता वह एक ॥ ५९ ॥

क्रमयोगी सदैव मुझे भोगता रहता है—

करमें ले अनेक प्रतिबिंब । लेके चलता जब सूर्यबिंब ।
प्रतिबिंबके साथही बिंब । न होता बिंबत्व ॥ ११६० ॥

वैसा मैं होकर देखता । वह दृश्यको ही ले जाता ।
वहां दृश्य भी नहीं होता । दृष्टापन भी ॥ ६१ ॥

रवि अंधार प्रकाशता । न होती जैसे प्रकाश्यता ।
वैसे दृश्यमें दृष्टता । मैं होनेसे ॥ ६२ ॥

फिर देखना या न देखना । ऐसी दशाको अनुभवना ।
यह है जो वास्तविक होना । दर्शन मेरा ॥ ६३ ॥

जो कुछ वह देखता । दृष्टा दृष्यातीत हो पार्था ।
इस दृष्टिसे है भोगता । क्रमयोगी सदा ॥ ६४ ॥

तथा आकाश आकाशसे जैसे । भरकर नहीं हिलता वैसे ।
मैं आत्मासे अपनेमें भी वैसे । होता है उसको ॥ ६५ ॥

कल्पांतमें उदकसे उदक । रोकनेसे सबही जैसे देख ।
रुक जाता वैसे आत्मासे एक । भर जाता वह ॥ ६६ ॥

पैर अपने पर कैसे चढेगा । अग्नि अपनेको कैसे जलायेगा ।
पानी आपही कैसे स्नान करेगा । अपनेसेही ॥ ६७ ॥

सभी मैं होनेसे अर्जुना । रुक जाता है आना जाना ।
यही है यात्रादि करना । मुझ अद्वयको ॥ ६८ ॥

जैसे जल पर तरंग । यदि दौडता है सवेग ।
फिर भी नहीं भूमिभाग । आक्रमता वैसे ॥ ६९ ॥

उसका तजना या धरना । चलना अथवा रूकना ।
वह उदक ही एक पूर्ण । इसी प्रकार ॥ ११७० ॥

तभी वह कहीं भी जाता । उदक परसे ही पार्था ।
आरंभकी एकात्मकता । न टूटती कभी ॥ ७१ ॥

ऐसे वह मैं से भरा रहता । संपूर्ण ही वह मद्रूप होता ।
ऐसे वह सदा यात्रा करता । मेरी ही अर्जुन ॥ ७२ ॥

तथा कभी शरीर स्वभावसे । कहीं कुछ भी कर बैठनेसे ।
तब इस कारण मैं ही उसे । प्राप्त होता हूं ॥ ७३ ॥

वहां है कर्म और कर्ता । यह सब मिटके पार्था ।
मैं आत्मा ही मुझ देखता । अपने आप ॥ ७४ ॥

तब वह न रहनेकासा रहता है न करनेकासा करता है--

दर्पणसे जैसे दर्पण । देखा तो न होता दर्शन ।
सोनेसे ढकता स्वर्ण । न ढकने जैसे ॥ ७५ ॥

दीपको जब दीप प्रकाशता । वह न प्रकाशना ही बनता ।
वैसे ही जब मैं कर्म करता । न करने जैसे ॥ ७६ ॥

कर्म भी वह करता रहता । किंतु कर्तव्य-भाव न रहता ।
वह करना न-करना होता । ऐसे समय ॥ ७७ ॥

कर्म तब जब मद्रूप बनता । तब वह कुछ करना न होता ।
उसका नाम ही पूजन हो जाता । यह है रहस्य ॥ ७८ ॥

ऐसे करके भी सब । न करना होता तब ।
होती महापूजा जब । इस पूजासे ॥ ७९ ॥

तब जो बोलता वह स्तवन । जो कुछ देखता वह दर्शन ।
मेरे अद्वयका होगा गमन । वह जो चलता ॥ ११८० ॥

वह जो करता वही पूजन । सोचता वह है मेरा स्मरण ।
ऐसे वह रहता है अर्जुन । रहना मुझमें ॥ ८१ ॥

जैसे सुवर्णका भूषण । सुवर्णमें होता अभिन्न ।
वैसे भक्ति-योगी अर्जुन । रहता मुझमें ॥ ८२ ॥

उदकमें जैसे कल्लोल । कर्पूरमें है परिमल ।
वैसे ही रत्नमें उजाल । अनन्य जैसे ॥ ८३ ॥

अथवा तंतुसे है पट । या माटीसे रहता घट ।
वैसे समरस सुभट । होता मुझसे ॥ ८४ ॥

यह है जानना सिद्ध भक्ति । अथवा संपूर्ण दृश्य जाति ।
आप जैसे देखना सुमति । आत्मत्वसे जो ॥ ८५ ॥

तीनों अवस्थाओंके द्वारा । उपाधि उपहिताकार ।
भाव अभाव रूप स्फुर । दृश्य जो यह ॥ ८६ ॥

दृष्टा मैं यह संपूर्ण । ऐसे बोधमें अर्जुन ।
करना वह नर्तन । धेंडा जैसे ॥ ८७ ॥

रज्जूको जब देखकर । आभास होता व्यालाकार ।
वह रज्जू ऐसा निर्धार । होता जैसे ॥ ८८ ॥

वैसे सुवर्णसे परे कहीं । रत्ती भी भूषण होता नहीं ।
यह सब गलाकार नहीं । करना निश्चित ॥ ८९ ॥

उदकके उस पार । नहीं होता है लहर ।
वहां स्वतंत्र आकार । न मानते जैसे ॥ ११९० ॥

या स्वप्नके सभी पदार्थ । जगकर देखा तो पार्थ ।
अपनेसे सभी पदार्थ । दीखते वे भिन्न ॥ ९१ ॥

यह सब जिसका स्फुरण है उस 'मैं' का स्वरूप—

तथा जो भावाभाव रहता । और जो कुछ ज्ञेय स्फुरता ।
उसे मैं अनुभवता ज्ञाता । ऐसे भोगता वह ॥ ९२ ॥

जानता अज मैं अजर । अक्षय तथा मैं अक्षर ।
अपूर्व और मैं अपार । आनंद मैं हूं ॥ ९३ ॥
अचल मैं अच्युत । अनंत मैं अद्वैत ।
आद्य मैं हूं अव्यक्त । व्यक्त भी मैं ॥ ९४ ॥
ईश्य मैं हूं ईश्वर । अनादि मैं अमर ।
अभय मैं आधार । अधेय भी मैं ॥ ९५ ॥
स्वामी मैं सदोदित । सहज मैं सतत ।
सर्व मैं सर्वगत । सर्वातीत भी मैं ॥ ९६ ॥
नवीन मैं पुराण । शून्य और संपूर्ण ।
स्थूल तथा मैं अणु । जो कुछ सबमें ॥ ९७ ॥
अक्रिय मैं हूं एक । असंग मैं अशोक ।
व्याप्त और व्यापक । पुरुषोत्तम मैं ॥ ९८ ॥
अशब्द मैं अश्रोत्र । अरूप मैं अगोत्र ।
सम और स्वतंत्र । ब्रह्म हूं मैं ॥ ९९ ॥
ऐसे आत्मत्वसे मुझे एक । अद्वय भक्तिसे मान ठीक ।
इस बोधको जानना देख । वह भी मैं हूं ॥ १२०० ॥
अजी ! जागृत होने पर जैसे । अपना एकत्व रहता वैसे ।
वही स्फुरता है उसको जैसे । कुछ समय ॥ १ ॥
अथवा प्रकाश कर अर्क । वही रहता है प्रकाशक ।
उसके अभेद्यका द्योतक । वही होता जैसे ॥ २ ॥
वैसे ही वेद्यका होता विलय । वेदक ही रहता धनंजय ।
वही होता है उसको वेद्य । यह भी जानता वह ॥ ३ ॥

ज्ञानका विवेचन—

अपना यह अद्वयपन । जानना है जो ज्ञान अर्जुन ।
वह ईश्वर मैं यह भान । होता है उसको ॥ ४ ॥
फिर द्वैत अद्वैतातीत । आत्मा हूं मैं एक विभ्रांत ।
वह मान करके पार्थ । अनुभवना यह ॥ ५ ॥

जगनेपे जैसे अकेलापन । अपने आप जाता है अर्जुन ।
तब क्या होता है इसका ज्ञान । नहीं होता वैसे ॥ ६ ॥

देखते जब स्वर्ण भूषण । तब जान कर यह स्वर्ण ।
न गलाते ही वह भूषण । गलता है जैसे ॥ ७ ॥

लवण पिघल कर होता है नीर । तब रहता उसमें कुछ क्षार ।
वैसे ही फिर मिट जाता है क्षार । रहता उदक मात्र ॥ ८ ॥

समरस भक्तिकी अद्वयावस्थाका विवेचन—

वैसे ही मैं और वह ऐसे जो होता । स्वानंदानुभव समरसमें पार्था ।
सान कर जब एक रूप हो जाता । मुझमें सब ॥ ९ ॥

तब वह यह ऐसा बोल मिटता । कह तू तब मैं किसके लिये होता ।
ऐसे मैं वह यह सब ही मिटता । स्वरूपमें ही ॥ १२१० ॥

कर्पूर जब जल चुकता । अग्नि भी तब समाप्त होता ।
तब उभयातीत रहता । आकाश मात्र ॥ ११ ॥

या एकमेंसे जब एक जाता । केवल शून्य मात्र है रहता ।
तब है नहीं सब ही मिट जाता । शेष रहता मैं ही ॥ १२ ॥

वहां ब्रह्म आत्मा ईश । मिटती है ऐसी भाष ।
अबोलका अवकाश । वह भी नहीं होता ॥ १३ ॥

न बोलना भी है बोलकर । वह भी बोलके मुह भर ।
जानना न जानना भूलकर । जाना जानना जो ॥ १४ ॥

बोधसे जहां बोध जानना । आनंदसे आनंद भोगना ।
सुखसे सुख अनुभवना । होता है केवल ॥ १५ ॥

वहां जुडता लाभ लाभमें । मिलती है प्रभा प्रभामें ।
डूब कर खड़ा विस्मयमें । स्वयं विस्मय ॥ १६ ॥

साम्य हुवा है वहां समसे । विश्राम हुवा है विश्रांतिसे ।
अनुभव पगलाया है जैसे । अनुभूतिमें ही ॥ १७ ॥

अथवा मानो ऐसे निखिल । मैं पनका मिलता है फल ।
सेवन करती लता वेल । क्रमयोगका वह ॥ १८ ॥

क्रमयोगी चक्रवर्तिके मुकुट पर । रहता है चिद्घन मैं ऐसा अलंकार ।
अपनी जीव-दशा मुझे अर्पण कर । पाया उपलक्षमें ॥ १९ ॥

क्रमयोग प्रासादका । कलश जो है मोक्षका ।
उसके अवकाशका । हुवा जो विस्तार ॥ १२२० ॥

इस संसारके अरण्यमें । क्रमयोगकी इस राहमें ।
जुड जाता मदैक्य ग्राममें । चलने पर जो ॥ २१ ॥

अथवा क्रमयोग ओघ । मिलके भक्त-चित्त गंगौघ ।
पाया स्वानंदोदधि सवेग । मद्रूपका ॥ २२ ॥

यहां तक जो सुवर्म । क्रमयोगकी महिमा ।
तुझसे कहते हम । बार बार ॥ २३ ॥

देश काल और पदार्थ । साधके मुझे पाना पार्थ ।
ऐसा नहीं मैं हूं समस्त । सबका हूं सर्वस्व ॥ २४ ॥

इसलिये है मदर्थ । न करना कुछ पार्थ ।
मिलता हूं मैं सतत । इस उपायसे ॥ २५ ॥

गीताकी महताका कथन—

एक शिष्य एक गुरु । रूढ यह व्यवहार ।
यह मत्प्राप्ति प्रकार । जाननेमें ॥ २६ ॥

वसुधाके उदरमें अर्जुन । रखा रहता है सिद्ध निधान ।
या अग्निका काठ दूधका स्तन । स्थान है जैसे ॥ २७ ॥

स्वभाव सिद्ध ही यह होता । किंतु उपायसे ही मिलता ।
सिद्ध जो होता वही मिलता । वैसा ही मैं ॥ २८ ॥

फल कहने पर क्या उपाय । कहता है यहां श्रीकृष्णराय ।
इसको कहनेका अभिप्राय । यहां है ऐसे ॥ २९ ॥

गीतार्थकी है श्रेष्ठता । मोक्षोपायही है पूर्णता ।
न अन्य शास्त्रसा होता । प्रमाणसिद्ध ॥ १२३० ॥

वायु जैसे बादल हठाता । सूर्यको वह नहीं बनाता ।
या हाथ जलकुंवी हठाता । न बनाता नीर ॥ ३१ ॥

आत्म-दर्शनके आड सकल । रहता है जो अविद्याका मल ।
नाशते हैं शास्त्र वह निर्मल । तब मैं प्रकाशता ॥ ३२ ॥

इसीलिये जो सभी शास्त्र । अविद्या नाशके हैं पात्र ।
किंतु नहीं है वे स्वतंत्र । आत्म-बोधमें ॥ ३३ ॥

जहां तक अध्यात्म शास्त्रकी बात । उसकी सचाईका प्रश्न निश्चित ।
आता है तब अंतिम यह गीता । शास्त्र है श्रेष्ठ ॥ ३४ ॥

प्राची जैसे सूर्यसे विभूषित । करती दिशा सतेज सतत ।
वैसे शास्त्रेश्वर गीता सनाथ । करती शास्त्रोंको ॥ ३५ ॥

बोले हैं ऐसे ये शास्त्रेश्वर । पीछे ही उपाय सविस्तर ।
जिससे हाथसे ले उठाकर । आत्मतत्व ॥ ३६ ॥

किंतु प्रथम वचनको अर्जुन । न स्वीकारें यदि तत्व अर्जुन ।
इस विचारसे हो सकरुण । कहता है श्रीहरि ॥ ३७ ॥

वही प्रमेय इस अवसर । शिष्यको करनेके लिये स्थिर ।
कह रहा है फिर एक बार । यहां श्रीकृष्ण ॥ ३८ ॥

प्रसंग भी है गीता-ग्रंथ । मुक्तायका आया साथ ।
तभी है दिखाता सायंत । एकार्थत्व ॥ ३९ ॥

गीताग्रंथ मध्य-भागमें । नाना अधिकार प्रसंगमें ।
अनेक सिद्धांतके रूपमें । किया निरूपण ॥ १२४० ॥

वहां जो है सब सिद्धांत । इस शास्त्रमें हैं प्रस्तुत ।
परंपरासे हो अज्ञात । मानेगा कोई ॥ ४१ ॥

उस महासिद्धांतके अंतर्गत । आ गये हैं अन्य अनेक सिद्धांत ।
उन सबके साथ ग्रंथ समाप्त । करता है श्रीहरि ॥ ४२ ॥

अविद्या-नाशका है स्थल । जिससे है मोक्ष प्राप्तिका फल ।
इन दोनों विषयोंका केवल । साधन है ज्ञान ॥ ४३ ॥
इतने ही हैं जो नाना प्रकार । कहे हैं ग्रंथ विस्तार कर ।
उसीको अल्पमें चक्रधर । कहता है अब ॥ ४४ ॥
तभी साध्य प्राप्त होने पर । साधनाका विवेचन कर ।
कहता कर ग्रंथ विस्तार । इसी भावसे ॥ ४५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

गीता साधनाका सारांशमें पुनःकथन—

कहता फिर हे सुभट । क्रमयोगी वह स-निष्ठ ।
मैं होके करता प्रविष्ट । मेरे ही रूपमें ॥ ४६ ॥
स्वकर्मोंके सुमनोंसे । मेरी पूजा करनेसे ।
पाता प्रसाद रूपसे । ज्ञान-निष्ठाको ॥ ४७ ॥
ज्ञान जब वह हाथ आता । भक्तिमें है उल्लास भरता ।
इससे फिर है सुख पाता । समरस होके ॥ ४८ ॥
करता जो विश्व-प्रकाशन । आत्मा जो वह मैं हूं अर्जुन ।
वह आत्मा सर्वव्यापी मान । अनुकरण करता ॥ ४९ ॥
तजके अपनी कठोरता । नून जैसे पानीमें घुलता ।
या चलके वायु है समाता । आकाशमें जैसे ॥ १२५० ॥
वैसे ही काया वाचा मनसे । मेरा आश्रय करता उसे ।
निषिद्ध कर्म भी भूलसे । करता तब ॥ ५१ ॥
आनेसे जैसे गंगाका संबंध । गंदा नाला होता है महानद ।
वैसे ही होने पर मेरा बोध । न रहता शुभाशुभ ॥ ५२ ॥

मेरे आश्रयमें नित्य करके सब कर्मको ।
पाता मेरी कृपासे ही मेरा ही पद शाश्वत ॥ ६६ ॥

तथा घूरा अथवा चंदन । नहीं करता अग्नि भक्षण ।
तब तक रहते हैं भिन्न । इस प्रकार ॥ ५३ ॥

पांच अथवा षोड़श । तब तक होता कस ।
जब तक है पारस । नहीं छूता ॥ ५४ ॥

ऐसे हैं यह शुभाशुभ । रहता है भरतर्षभ ।
जब तक न होता लाभ । मेरे प्रकाशका ॥ ५५ ॥

अजी ! रात्र और दिव । तब तक द्वैत भाव ।
जब तक है अभाव । सूर्यका जहां ॥ ५६ ॥

इसीलिये होते ही मेरी भेंट । उसके सभी कर्म हैं सुभट ।
मिट कर मिल जाता है पाट । मेरे सायुज्यका ॥ ५७ ॥

देश काल तथा स्वभाव । जिसका नाश न संभव ।
ऐसा पद वह पांडव ! पाता अविनाशी ॥ ५८ ॥

अथवा मानो पांडुसुता । आत्माकी मेरी प्रसन्नता ।
अलंकार उसे मिलता । इससे बड़ा क्या लाभ ॥ ५९ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥ ५७ ॥

समर्पणका रहस्य—

इसीलिये हे अर्जुन । सभी कर्म समर्पण ।
कर तू अपने जान । मेरे स्वरूपमें ॥ १२६० ॥

वह समर्पण धनुर्धर । कृत्रिम रूपसे तू न कर ।
आत्म - विवेकसे धरकर । कर तू चित्तवृत्तिको ॥ ६१ ॥

फिर वह विवेक बल । सभी कर्ममें जो निराला ।
मेरे रूपमें ही निर्मल । देखेगा तू ॥ ६२ ॥

मुझ मत्पर वृत्तीसे सौंपके कर्म जो सब ।
समत्वमें स्थिरतासे मुझमें चित्त तू रख ॥ ५७ ॥

तथा कर्मका जन्म-स्थान । मेरी प्रकृति जो अर्जुन ।
करेगा उसका दर्शन । अपनेसे दूर ॥ ६३ ॥
अपनेसे प्रकृति भिन्न । नहीं रहती है अर्जुन ।
करेगा उसका दर्शन । अपनेसे दूर ॥ ६४ ॥
इससे प्रकृतिका नाश । होकरके कर्म-संन्यास ।
उत्पन्न होगा अनायास । सकारण ॥ ६५ ॥
मिटकर सब कर्म-जात । आत्मा मात्र मैं रहता पार्थ ।
उसमें बुद्धिको तू व्रतस्थ । करके रख ॥ ६६ ॥
बुद्धि है जो अनन्ययोगसे । मुझमें पैठ जायेगी ऐसे ।
तब अन्य विषय त्यागसे । मुझेही भजेगा चित्त ॥ ६७ ॥
तज कर विषय जात । चित्त हुवा मुझमें रत ।
चिंतन करेगा सतत । मेरा ही वह ॥ ६८ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

इस सेवासे जब अभिन्न । भरेगा चित्त मुझसे जान ।
मेरा प्रसाद हुवा संपूर्ण । जान तू यह ॥ ६९ ॥
वह सकल दुःख धाम । भोगे जाते जो मृत्यु जन्म ।
दुर्गम वे सब सुगम । होंगे तुझे ॥ १२७० ॥
सूर्य- सहायका जो आश्रय । आंखोंको मिलता धनंजय ।
रहा क्या वहां तमका भय । कह तू मुझे ॥ ७१ ॥
वैसे ही है प्रसाद मेरा अर्जुन । करता जीवदशा उपमर्दन ।
उसे कैसे संसारका हौवा जान । डरायेगा कभी ॥ ७२ ॥
इसीलिये हे पार्थ । संसारका जो गर्त ।
तरेगा तू निश्चित । मेरी कृपासे ॥ ७३ ॥

सभी दुःख तभी मेरी कृपासे तर जायगा ।
नाश निश्चित पायगा न मान यह मानसे ॥ ५८ ॥

अथवा तू साभिमान । मेरा सब ये कथन ।
रखेगा सीमापे जान । कान मनकी ॥ ७४ ॥

यदि तू है नित्य मुक्त अव्यय । व्यर्थ होकर वह धनंजय ।
देहाहंकारका आघात भय । होगा तुझको ॥ ७५ ॥

जिस देह संबंधमें पार्थ । प्रति पगमें है आत्मघात ।
भोगनेमें होगा सदा श्रांत । शांति न मिलेगी ॥ ७६ ॥

इस बोलका तू धनुर्धर । नहीं करेगा यदि विचार ।
मृत्यु न होके भी भयंकर । पायेगा मृत्यु ॥ ७७ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

पथ्य-द्वेषी पोसता है ज्वर । या दीप-द्वेषीको अंधःकार ।
विवेक-द्वेषसे अहंकार । पोसता वैसे ॥ ७८ ॥

स्वदेहका नाम अर्जुन । पर देहका नाम स्वजन ।
संग्रामका नाम मलिन । पापाचार ॥ ७९ ॥

ऐसी अपनी मति अर्जुन । तीनोंको नाम देकर तीन ।
मैं न लड़ूंगा ऐसा वचन । कहती है जो ॥ १२८० ॥
मनमें ऐसा निश्चय एक । करेगा यदि तू आत्यंतिक ।
कार्य करेगा सो नैसर्गिक । स्वभाव तेरा ॥ ८१ ॥

तथा मैं अर्जुन ये आत्मिक । इनको मारना है पातक ।
यह है जान भ्रम-मूलक । है तत्वहीन ॥ ८२ ॥

पहले होता है तू लडाका । तथा फिर शस्त्र उठानेका ।
फिर कहता न लड़नेका । विचार अपना ॥ ८३ ॥

इसीलिये नहीं जूझना । व्यर्थ है तेरा जो कहना ।
लौकिक दृष्टिसे भी जान । तो भी व्यर्थ ॥ ८४ ॥

कहेगा न लड़ूंगा मैं वश हो अहंकारके ।
यह निश्चय है पार्थ करायेगा स्वभाव जो ॥ ५९ ॥

तब जो तू मैं न लड़ूंगा । ऐसे ही निश्चय करेगा ।
तो भी वह व्यर्थ करेगा । स्वभाव तेरा ॥ ८५ ॥

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

सभी स्वभावके आधीन हैं—

प्राचीकी ओर जो प्रवाह बहता । उसमें उलटा ही कोई तैरता ।
उसका हठ अवश्य ही रहता । पानी खींचता ओघमेंही ॥ ८६ ॥

या कहेगा चावलका दाना । न उगूंगा मैं चावल बना ।
उसका स्वभाव बदलना । शक्य है क्या ॥ ८७ ॥

वैसे ही क्षात्र-संस्कार सिद्ध । प्रकृतिने बनाया प्रबुद्ध ।
कहता युद्ध मुझे निषिद्ध । करायेगा वही ॥ ८८ ॥
शौर्य तेज और दक्षता । इत्यादिक जो पांडुसुता ।
दिये हैं गुणोंको जन्मता । प्रकृतिने तुझे ॥ ८९ ॥

तब क्षात्र-गुणानुरूप । युद्ध करना मान पाप ।
युद्धसे रहना निर्लेप । तुझे असंभव ॥ १२९० ॥
क्षात्र-गुणोंसे तू अर्जुन । बंधा है स्वभावसे जान ।
क्षात्र-प्रवाहमें पतन । होगा ही तेरा ॥ ९१ ॥
अपना जो यह जन्म-मूल । न विचार कर तू केवल ।
न लडेगा इसपे अचल । व्रत लेगा ॥ ९२ ॥
जैसे बांध कर हाथ पाय । किसीको रथमें डाला जाय ।
न चलके भी वह निश्चय । पहुंचेगा दिगंतमें ॥ ९३ ॥
कुछ भी न करूंगा मैं ऐसे । कह कर अपनी ओरसे ।
रहेगा तू यदि निश्चयसे । लड़ेगा ही ॥ ९४ ॥

अपने ही स्वकर्मोंसे बंधा है तू स्वभाविक ।
टालना चाहता जो है करेगा तू अवश्यश ही ॥ ६० ॥

विराट राज-पुत्र उत्तर । भागा रण-भूमि छोड़कर ।
तब लड़ा तू ही धनुर्धर । इसी स्वभावसे ॥ ९५ ॥

महावीर जो ग्यारह अक्षोहिणी । हराये अकेलेने कोदंडपाणी ।
वही स्वभाव यहां तुझे सेनानी । बनायेगा निश्चित ॥ ९६ ॥

रोगीको कभी क्या रोग भाता । या दरिद्रीको दारिद्र्य भाता ।
किंतु जो प्रारब्ध है भोगाता । अति बलवान ॥ ९७ ॥

वह अदृष्ट जो है भिन्न । कराता है ईश्वराधीन ।
वह ईश भी है अर्जुन । हृदयमें तेरे ॥ ९८ ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मयया ॥ ६१ ॥

सबमें व्याप्त ईश्वर अपनी मायासे विश्व चलाता रहता है—

अंतरमें सब भूतोंके । महा नभमें हृदयके ।
सहस्रकर चिद्वृत्तिके । होता है उदय ॥ ९९ ॥

अवस्थात्रय तीनों लोक । प्रकाश करके अशेष ।
अन्यथा दृष्टिके पांथिक । जगाते हैं जो ॥ १३०० ॥

वेद्योदकके सरोवरमें । खिले जो विषय कमलमें ।
जीव षट्पदसे जीवनमें । चराता है वह ॥ १ ॥

रहने दे रूपक जो ईश्वर । सकल भूतोंका है अहंकार ।
अपने सिरपे ले निरंतर । प्रकटता है ॥ २ ॥

अपनी मायाका जो आड वस्त्र । लगाके अकेला चलता सूत्र ।
वाद नटते रहते चित्र । चौरासी लाख ॥ ३ ॥

ब्रह्मादिसे कीटांत । अशेष भूतजात ।
देख योग्यता पार्थ । दिलाता देह ॥ ४ ॥

रहा है सब भूतोंके हृदयमें परमेश्वर ।
मायासे ही चलाता जो यंत्रोंपर चढा कर ॥ ६१ ॥

तब जो शरीरका आकार । सम्मुख आया है देखकर ।
तदनुरूप ही ओढ कर । कहता मैं यह ॥ ५ ॥

सूतसे सूत लपेटा जाता । या घाससे घास बांधा जाता ।
जल बिंबको आप मानता । बालक जैसे ॥ ६ ॥

उसी भांति देहका आकार । आप ही दूसरा मानकर ।
देहको आत्मा समझकर । होता प्रकट ॥ ७ ॥

ऐसे हैं ये शरीराकार । यंत्रमें भूत धनुर्धर ।
डालकर हिलाता डोर । प्रारब्धका जो ॥ ८ ॥

उसका वहां जो कर्मसूत्र । बांधकर रखा है स्वतंत्र ।
वह उसके गतिका पात्र । होता है सदा ॥ ९ ॥

क्या कहूं मैं तुझे धनुर्धर । उडाता रहता निरंतर ।
गगनमें तिनके समीर । वैसे भूतोंको है यह ॥ १३१० ॥

जैसे चुंबकके साथ । भ्रमता है लोह नित ।
वैसे चलते हैं भूत । ईश्वराज्ञासे ॥ ११ ॥

जैसे अपनी चेष्टा पार्थ । करते समुद्रादि नित ।
चंद्र-सांनिध्यके साथ । उसी प्रकार ॥ १२ ॥

उससे सागर उछलता । सोमकांतमणि पसीजता ।
कुमुद चकोरका मिटता । सभी संकोच ॥ १३ ॥

वैसे बीज प्रकृति वश । अनेक भूत एक ईश ।
चलता रहता अशेष । तेरे हृदयमें ॥ १४ ॥

अर्जुनपन नहीं लेकर । 'मैं' ऐसे स्फुरता निरंतर ।
वही है तत्वता धनुर्धर । उसका रूप ॥ १५ ॥

इसीलिये करना प्रवृत्त । जान तू प्रवृत्तिको सतत ।
निश्चित ही लड़ायेगी पार्थ । तुझको यह ॥ १६ ॥

इसीलिये स्वामी है यह ईश्वर । उसीकी चलती है प्रकृति पर ।
वह करा लेती सब धनुर्धर । इंद्रियोंसे कार्य ॥ १७ ॥

करना या न करना पार्थ। प्रकृतिके सिरपे दे नित ।
वह प्रकृति है आधीनस्थ। जिस हृदयस्थके ॥ १८ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

ईश्वर शरणता ही शांतिका एकमेव साधन है—

अहं वाचा तन मन। देकर जा तू शरण ।
जाती है गंगा अर्जुन। सागरमें जैसे ॥ १९ ॥

फिर उसके प्रसादसे। सर्वोपशांति-प्रमदासे ।
कांत होकर स्वानंदसे। रमेगा स्वरूपमें ॥ १३२० ॥

उत्पत्ति होती जहांसे उत्पन्न। विश्रांतिका जहां विश्रांति-स्थान ।
अनुभूति बोध लेती अर्जुन। अनुभवका जहां ॥ २१ ॥

उस निजात्मपदका राय। होकर रहेगा तू अव्यय ।
सुनता है यहां धनंजय। कहता श्रीहरि ॥ २२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

गीता नामसे यह विख्यात। सभी वाङ्मयका जो मथित ।
जिससे होता है हस्तगत। आत्म-रत्न ॥ २३ ॥

वेदांतमें इसको ज्ञान। ऐसा नाम दिया महान ।
इससे सदा यशोगान। हुवा वेदांतका ॥ २४ ॥

बुद्ध्यादिक जो ज्ञानवान। इसीसे है प्रकाशमान ।
"मैं" सर्व द्रष्टाका दर्शन। होता है इससे ॥ २५ ॥

उसीकी ओटमें जा तू पायेगा सर्व भावसे ।
कृपासे उसकी श्रेष्ठ शांतिका स्थान शाश्वत ॥ ६२ ॥

ऐसा जो गूढसे गूढ कहा ज्ञान तुझे अब ।
सोचके यह सारा तू स्वेच्छासे योग्य जो कर ॥ ६३ ॥

यह है वह आत्मज्ञान । मेरा गुह्यसे गुह्य धन ।
तुझसे कैसे मैं वंचन । करूं सखासे ॥ २६ ॥

इस कारणसे है अर्जुन । दिया अपना गुप्त निधान ।
तुझसे होकर सकरुण । हमने यहां ॥ २७ ॥

ममतासे भूलकर पार्थ । माता बोलती अ-यथार्थ ।
तुझसे भी हम इस अर्थ । बोलते हैं सदा ॥ २८ ॥

जैसे आकाशको भी छानना । तथा अमृतको भी छीलना ।
अथवा दियासे कराना । दिव्य जैसे ॥ २९ ॥

जिसका शरीर है प्रकाशन । करता पातालका अणु जान ।
उस सूर्यकी आंखोंमें अंजन । लगाना कैसे ॥ १३३० ॥

ऐसे मैं सर्वज्ञ अर्जुन । विचारसे कर मंथन ।
सबसे यह भला जान । कहा तुझसे ॥ ३१ ॥

तू ही अब इस पर । कर अपना निर्धार ।
निर्धारके बाद फिर । कर जो योग्य ॥ ३२ ॥

यह सुनकर धनंजय । स्वस्थ हो रहा उस समय ।
तब कहे देव हो सदय । भला तू अवंचक ॥ ३३ ॥

भोजनमें बैठा क्षुधित । कहकर हुवा मैं तृप्त ।
होता आप क्षुधा पीडित । तथा मिथ्याचारी ॥ ३४ ॥

वैसे मिला सर्वज्ञ श्रीगुरु । करानेमें जो आत्म-निर्धार ।
नहीं पूछता मान आभार । मनमें उसके ॥ ३५ ॥

तब तो अपनेको ही फंसाता । तथा अपनी ही वंचना करता ।
और अपने आप है दूर जाता । सत्य-स्वरूपसे ॥ ३६ ॥

तेरे मौनमें जो है अर्जुन । भेद जानता है मेरा मन ।
सुनना है फिर वह ज्ञान । अल्पमें एक बार ॥ ३७ ॥

कहता तब वह धनुर्धर । जानता देव तू मेरा अंतर ।
ऐसे कौन है जानेगा दूसरा । मेरा हृदय ॥ ३८ ॥

यह ज्ञेय जो यहां संपूर्ण । इसका ज्ञाता तू एक जान ।
सूर्य ऐसे सबका वर्णन । करना क्या फिर ॥ ३९ ॥

सुनके यह श्रीकृष्ण । बोलता है तू अर्जुन ।
है क्या हमारा वर्णन । यह अल्प ॥ १३४० ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

अनन्य भक्तसे कहा गया हृदयका गूढ--

एकाग्र कर संपूर्ण ध्यान । फिरसे यह बात तू सुन ।
मेरा वचन यह अर्जुन । जो अति निर्मल ॥ ४१ ॥

वाच्य है इसीलिये बोलना । या श्रव्य है इसीलिये सुनना ।
ऐसे नहीं तो तेरा अर्जुना । भला है भाग्य ॥ ४२ ॥

नहीं होती है कभी दृष्टि प्रेमार्द्र । पिल्लोंको कूमाकी दृष्टि है प्रेमार्द्र ।
वैसे ही होता आकाश भी प्रेमार्द्र । चातकके लिये ॥ ४३ ॥

जहां जो व्यवहार नहीं होता । उसका फल भी तब मिलता ।
जब दैव अनुकूल हो जाता । उस समय ॥ ४४ ॥

वैसे जो द्वैतका आना जाना । रोकके ऐक्य-घरमें जाना ।
तथा वहांका सुख भोगना । जो है रहस्य ॥ ४५ ॥

तथा जो निरुपचार प्रेम । विषय होता है प्रियोत्तम ।
दूसरा नहीं होकर आत्म । जानना यह ॥ ४६ ॥

देखनेके लिये दर्पण । पोंछना स्वच्छ जो अर्जुन ।
अपने लिये होता जान । उसके लिये नहीं ॥ ४७ ॥

तेरे लिये अब मैं पार्थ । बोलता अपने ही साथ ।
मैं तू यह भेद यथार्थ । नहीं हममें ॥ ४८ ॥

गूढ जो सब गूढोंका फिरसे वाक्य उत्तम ।
हितार्थ कहता तेरे होगा तू सुन मत्प्रिय ॥ ६४ ॥

इसीलिये यह हृदयका गुह्य । कहता मैं जीवसे ही धनंजय ।
अनन्यगति भक्तसे कैसे सह्य । रखना यह गूढ ॥ ४९ ॥

जलको सर्वस्व देता अपना । नून नहीं रहता तब भिन्न ।
तथा देनेमें सर्वस्व अ न । लजाता भी नहीं ॥ १३५० ॥

वैसे तू मुझमें अपना । न रखता द्वैत अर्जुन ।
तब तुझसे है छिपाना । रहा क्या गूढ ॥ ५१ ॥

इसीलिये गूढ जो संपूर्ण । खुलता है जिससे अर्जुन ।
यह शुद्ध गौप्य जो वचन । सुन तू अब ॥ ५२ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

तब तू बाह्य और अंतर । अपने अन्य सभी व्यापार ।
मुझ व्यापकके धनुर्धर । कर विषय ॥ ५३ ॥

सर्वेंद्रिय मन वचन प्राणसे मुझमें लीन हो—

अथवा सर्वांगसे जैसे । वायु मिला है आकाशसे ।
सब कर्ममें तू भी वैसे । मुझसे मिल ॥ ५४ ॥

मानो तू अपना मन । कर मेरा ही सदन ।
मेरे श्रवणसे कान । भरे निरंतर ॥ ५५ ॥

आत्म-ज्ञानमें शुद्ध सिद्ध । रहते जो संत प्रसिद्ध ।
वहां हो तेरी दृष्टि बद्ध । कामुकोंकी सी ॥ ५६ ॥

सब विश्वका मैं वसतिस्थान । उस मेरे नाम जो अर्जुन ।
उसको अंतःकरणमें स्थान । दे तू वाचासे ॥ ५७ ॥

हाथोंका जो है करना । तथा पैरोंका चलना ।
वह ही मेरे कारण । ऐसे कर तू ॥ ५८ ॥

प्रेमसे करके ध्यान भज तू पूज तू मुझे ।
होगा तू मुझमें लीन प्रिय जो जान सत्य है ॥ ६५ ॥

अपना अथवा पराया । उपकारमें धनंजय ।
कर तू योग्य उपाय । हो मेरा याज्ञिक ॥ ५९ ॥

एकेक क्या है यह सिखाना । अपनेमें पूजा भाव लाना ।
विश्व मद्रूप मान करना । पूजा सुखसे ॥ १३६० ॥

तब सब भूत-द्वेष मिटकर । करेगा मुझ एकको नमस्कार ।
इससे मेरा आश्रय धनुर्धर । पायेगा निश्चित ॥ ६१ ॥

तब इस विश्वमें भी फिर । तीसरेकी बात मिटकर ।
मेरा तेरा एकांत धनुर्धर । रहेगा केवल ॥ ६२ ॥

तब सभी अवस्थामें । मैं तुझमें तू मुझमें ।
भोग करेगा मोदमें । बढेगा सुख ॥ ६३ ॥

तब यहां जो प्रतिबंध करना । तीसरा जग सब मिट ही जाना ।
फिर है मेरा ही अनुभव आना । शेष जो मैं हूं ॥ ६४ ॥

जैसे जलकी जो प्रतिभा । जल नाशके होगी बिंब ।
होनेमें रहता विलंब । किसका वहां ॥ ६५ ॥

पवन तथा अंबर । या कल्लोल औ' सागर ।
मिलनेमें धनुर्धर । रोक है कैसे ॥ ६६ ॥

वैसे तू और मैं हम । दिखाते हैं देह-धर्म ।
फिर इसका विराम । मुझमें ही है ॥ ६७ ॥

इस मेरे बोलनेमें । शंका न कर मनमें ।
अन्यथा नहीं इसमें । तेरी सौगंध ॥ ६८ ॥

जैसे तेरी सौगंध लेना । मानो है अपनी ही लेना ।
प्रीति जातिको है लजाना । आता ही नहीं ॥ ६९ ॥

वेद कहता है निष्प्रपंच । जिससे विश्वाभास है सच ।
उसकी आज्ञाका नट-नाच । कालको जीतना ॥ १३७० ॥

यदि मैं देख सत्य-संकल्प । तथा विश्व-हितकर्ता बाप ।
तब मैं सौगंधका आक्षेप । करता ही क्यों ॥ ७१ ॥

किंतु है तेरे ही कारण । देवत्व छोड़ा है अर्जुन ।
तथा रहा हूं मैं अपूर्ण । और पूर्ण हुवा तू ॥ ७२ ॥

राजा जैसे अपने कार्यार्थ । अपनी सौगंध देता पार्थ ।
वैसे मैं अपनी शपथ । लेता हूं अब ॥ ७३ ॥

इस पर कहता है पार्थ । देव ऐसे न बोल बहुत ।
तेरे नामसे होते समस्त । कार्य हमारे ॥ ७४ ॥

इतने परभी कहने बैठता । कहनेमें सौगंध भी तू दिलाता ।
इसभांति तेरा विनोद अनंता । असीम है देव ॥ ७५ ॥

जैसे कमलका विकास । करना रविका एकांश ।
किंतु देता पूर्ण प्रकाश । नित्य ही वह ॥ ७६ ॥

पृथ्वीको शांत करके सागर । भरते जितना वर्षता नीर ।
किंतु दिखा करके शार्ङ्गधर । बहाना चातकका ॥ ७७ ॥

इसभांति है यह तेरा औदार्य । मुझे निमित्त बनाके देवराय ।
विश्व-हितार्थ देता तू दयामय । यह ज्ञान-दान ॥ ७८ ॥

देव कहते रहने दे अर्जुन । न करना ऐसे हमारा वर्णन ।
इस उपायसे पायेगा तू जान । मत्स्वरूपको ही ॥ ७९ ॥

सैंधव जब सिंधुमें पड़ता । उसी क्षण पिघलने लगता ।
उसको कौन कारण रहता । अलग रहनेका ॥ १३८० ॥

सर्वत्र भजनेसे मुझे ऐसे । तत्वतः सब ही मैं हो जानेसे ।
अहंता सब नष्ट हो जानेसे । होता है मद्रूप ॥ ८१ ॥

इस भांति तुझे कर्मसे । मद्रूप होने तक ऐसे ।
साधना प्रकार जो ऐसे । बताये सारे ॥ ८२ ॥

कर्म सारे मुझको अर्जुन । करनेसे सदा समर्पण ।
मिलेगी मेरी वृत्ति प्रसन्न । तुझको सदैव ॥ ८३ ॥

मिलनेसे मेरा यह प्रसाद । तुझको होगा मेरा ज्ञान सिद्ध ।
तब समरस होगा विशुद्ध । मद्रूपमें तू ॥ ८४ ॥

ऐसी स्थितिमें तुझको तब । न रहेगा साध्य साधन सब ।
करनेका रहता क्या तब । कह तू मुझको ॥ ८५ ॥

अपने सभी कर्मोंको अर्जुन । करनेसे मुझे सदा अर्पण ।
मिली है तुझे यह प्रसन्न । वृत्ति मेरी ॥ ८६ ॥

इसी लिये यह मेरा प्रसाद । तोडकर युद्धका प्रतिबंध ।
देता है तुझे यहां आत्मबोध । ऐसे पगलाके मैं ॥ ८७ ॥

इससे स-प्रपंच अज्ञान जाता । एक ही एक मैं दीखता रहता ।
विविध रूपसे तुझे यहां पार्था । यह है गीता-तत्व ॥ ८८ ॥

तुझको अब यह मेरा अपना । विविध रूपसे दिया है जो ज्ञान ।
जिससे तजेगा तू सब अज्ञान । मूल जो धर्माधर्मका ॥ ८९ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

शरणागतिका विवेचन—

आशासे जैसे दुःख जन्मता । निंदासे दुरित प्रसवता ।
वैसे जन्म लेती है दीनता । दुर्भाग्यसे ही ॥ १३९० ॥

वैसे स्वर्ग-नरक सूचक । जन्मता अज्ञान धर्मादिक ।
तभी तू वह कर निःशेष । ज्ञानसे सदैव ॥ ९१ ॥

करमें डोर उठाकर । छोड़ दे वह सर्पाकार ।
या निद्रा-त्यागसे संसार- । स्वप्नका वैसे ॥ ९२ ॥

अथवा जाने पर कामला । जाता है चंद्र प्रकाश पीला ।
व्याधि त्यागसे कडुवा भला । जाता है मुखका ॥ ९३ ॥

अथवा दिवसका त्याग करनेसे । मिटता मृगजल अपने आपसे ।
अथवा है जैसे लकडीके त्यागसे । तजता अग्नि ॥ ९४ ॥

सारे ही छोडके धर्म मेरा आश्रय तू कर ।
जलाऊंगा सभी पाप तेरा मैं शोक ना कर ॥ ६६ ॥

वैसे धर्माधर्म जो सकल । दिखाता है अज्ञान है मूल ।
तजके वह त्यागो सकल । धर्मजात ॥ ९५ ॥

मिट जाता जब अज्ञान । सहज रहता मैं ही जान ।
जानेसे जैसे स-नींद स्वप्न । रहता है आप ॥ ९६ ॥

वैसे मैं एकके बिन नहीं । भिन्नाभिन्न कुछ भी कहीं ।
सोऽहं-बोधसे हो उसमें ही । अनन्य सदैव ॥ ९७ ॥

किंतु है उनसे भेद बिन । मेरा ही जानना एकपन ।
उसका ही नाम है शरण । आना मेरी ॥ ९८ ॥

जैसे घटका होनेसे नाश । गगनमें गगन प्रवेश ।
इस भांति होता समरस । आनेसे शरण ॥ ९९ ॥

स्वर्ण-मणि जैसे स्वर्णमें । या कल्लोल जैसे पानीमें ।
वैसे अर्जुन तू मुझमें । पा ले आश्रय ॥ १४०० ॥

भिन्न अस्तित्व रखकर शरणागतिका विवेचन—

अथवा समुद्रके उदरमें जैसे । वडवानल आश्रय पाता है वैसे ।
सिंधुको वह जलाके सुखाता वैसे । तज दे वह ॥ १ ॥

मेरे ही शरणमें आना । जीवत्वसे भिन्न रहना ।
निर्लज्ज है ऐसे बोलना । ऐसी वह प्रज्ञा ॥ २ ॥

सहज ही करता है धनुर्धर । कोई राजा जब दासीका स्वीकार ।
वह दासी भी समान स्तरपर । आती है वैसे ॥ ३ ॥

अजी ! विश्वेश्वर मैं भेटता । तथा जीव बंध न छूटता ।
ऐसी यह अमंगल वार्ता । न सुनना कभी ॥ ४ ॥

मद्रूप हो मुझसे मिलना । भक्ति मेरी ऐसी ही करना ।
ऐसी भक्ति देता है जो ज्ञान । उसको कर प्राप्त ॥ ५ ॥

जिस मट्टेसे निकाला नवनीत । फिरसे उसीमें डाला वह पार्थ ।
फिर कभी उसमें नहीं मिलता । उसी प्रकार ॥ ६ ॥

लोहेपे जंग सहज चढ़ता । किंतु उसे जब परिस छूता ।
सुवर्णपे कभी नहीं चढ़ता । जंग अर्जुन ॥ ७ ॥

जाने दे काष्ठोंका कर मंथन । करने पर अग्निको उत्पन्न ।
उसी काष्ठमें कहो अग्नि क्या । समाता क्या कभी ॥ ८ ॥

अभिन्न शरणागतिसे सभी मैं हो जाता हूँ—

ऐसे अद्वयत्वमें मुझ । शरण आनेसे है तुझ ।
धर्माधर्म जो हैं सहज । नहीं छूएंगे ॥ ९ ॥

कभी क्या कह तू दिनकर । देखता है क्या कहीं अंधार ।
जागृतिमें होगा क्या गोचर । कभी स्वप्न ॥ १४१० ॥

वैसे मुझमें होनेसे मिलन । मेरी सर्व-व्यापकतासे भिन्न ।
रहनेका क्या रहा कारण । कह तू मुझे ॥ ११ ॥

इसलिये उसकी नहीं । चिंता व्यर्थ करना कहीं ।
तेरे पाप पुण्यका मैं ही । बनूंगा सारा ॥ १२ ॥

जलमें गिरा हुवा लवण । सब ही जल होता अर्जुन ।
बनूंगा मैं अनन्य शरण । तुझको वैसे ॥ १३ ॥

वहां जो सभी बंधका कारण । पाप है मुझसे रहता भिन्न ।
मेरे बोधमें ही वह विलीन । होगा सारा ॥ १४ ॥

इतनेमें ही तू सहज । मुक्त हुवा है पार्थ आज ।
जान ले भली भांति मुझ । करूंगा मैं मुक्त ॥ १५ ॥

इसीलिये न रहा है अर्जुन । मनमें चिंताका कोई कारण ।
मुझ एकको मान तू शरण । आज ही सुमति ॥ १६ ॥

ऐसे सभी रूपसे जो सुंदर । तथा सभी दृष्टिसे जो चतुर ।
कहता है जो सर्व व्याप कर । रहता श्रीकृष्ण ॥ १७ ॥

फिर शाम-सुंदर स-कंकण । पसार कर स्व-बाहू दक्षिण ।
आलिंगन करता स्व-शरण । भक्त-राजको ॥ १८ ॥

भक्त और भगवानका सामरस्य—

नहीं पा करके जिसको । बगलमें मार बुद्धिको ।
वाचा लौट आई पीछेको । जिस स्थानसे ॥ १९ ॥
ऐसा है जो कुछ एक । वाणी बुद्धिको रोक ।
देनेमें किया है सुख । आलिंगन ॥ १४२० ॥
हृदयसे हुवा हृदय एक । हृदय हृदयमें सना नेक ।
द्वैत न भंगते किया है देख । अपनासा अर्जुनको ॥ २१ ॥
दीपसे दीप जलाया । ऐसा आलिंगन भया ।
द्वैत न तोड़ते किया । अपनासा पार्थ ॥ २२ ॥
तब आया सुखका पूर । पार्थमें वह भरपूर ।
बडे भी यहां डूबकर । गये प्रभु पूर्ण ॥ २३ ॥
सिंधुसे सिंधु मिलने आता । पानी उसमें दूना बढ़ता ।
उफानमें ओछा ही दीखता । तब आकाश ॥ २४ ॥
वैसे उन दोनोंका मिलन । यहां समेटे किसको कौन ।
किंतु यहां तब नारायण । ठूंसता विश्व ॥ २५ ॥

गीता वेदका भी मूल-सूत्र है—

ऐसे जो वेदका मूल-सूत्र । सर्वाधिकार एक पवित्र ।
श्रीकृष्णने तब गीताशास्त्र । किया प्रकट ॥ २६ ॥
वेदोंका मूल है कैसी गीता । ऐसे कोई मुझसे पूछता ।
तब जो मैं संबंध कहता । यह प्रसिद्ध ॥ २७ ॥
अजी बने जिसके निःश्वास । इससे बनी वेदोंकी रास ।
सत्य प्रसिद्ध बोलता खास । स्व-मुखसे यह ॥ २८ ॥
इसीलिये वेदोंका मूलभूत । गीता-तत्त्व कहना है उचित ।
अन्य भी एक यहां यथार्थ । उपपत्ति भिन्न ॥ २९ ॥
स्वरूपसे जो नहीं नाशता । विस्तार आपमें समा लेता ।
उसीको असीम कहा जाता । विश्वमें संपूर्ण ॥ १४३० ॥

वह कांड - त्रयात्मक । शब्दराशि जो अशेष ।
गीतामें है रहा सुख । बीजमें जैसे ॥ ३१ ॥

इसीलिये वेदका बीज । श्रीगीता ही है यह मुझ ।
लगा है वैसे भी सहज । लगता ही है ॥ ३२ ॥

जो है वेदके तीनों भाग । गीतामें उमडे हैं चांग ।
भूषण करनेसे सर्वांग । शोभता जैसे ॥ ३३ ॥

कर्मादिक जो उसके तीन । कांड हैं यहां किस स्थान ।
गीतामें है जो वे संपूर्ण । दिखाऊंगा अब ॥ ३४ ॥

गीता और वेदकी समानता—

गीताका जो पहला पर्व । शास्त्र-प्रवृत्तिका प्रस्ताव ।
दूजा सांख्य - शास्त्र सद्भाव । है प्रदर्शित ॥ ३५ ॥

मोक्ष - दानमें जो स्वतंत्र । ज्ञान प्रधान यह शास्त्र ।
इसीमें है यह सु - सूत्र । लिया हाथमें ॥ ३६ ॥

फिर हैं जो अज्ञानमें बद्ध । मोक्ष - पदमें चढ़ने सिद्ध ।
उन्हे साधनारंभ विशुद्ध । कहा तीसरेमें ॥ ३७ ॥

तथा जो देहाभिमानमें बद्ध । छोडकर काम्य - कर्म निषिद्ध ।
विहित कर्म करें अप्रमाद । कहा है यह ॥ ३८ ॥

सद्भावसे ऐसे कर्म करना । तीसरे अध्यायका है कहना ।
श्रीकृष्णका निर्णय जो जानना । कर्मकांड ॥ ३९ ॥

और वे ही नित्यादिक । अज्ञानका आवश्यक ।
आचरनेसे मोचक । होगा ऐसे ॥ १४४० ॥

ऐसी जब अपेक्षा होती । बद्धमें मुमुक्षुता आती ।
तब ब्रह्मार्पणत्व कृती । करना भी सिखाया ॥ ४१ ॥

जो काया वाचा मनसे । विहित हो सब ऐसे ।
वह ईश्वरोद्देश्यसे । करनेको कहा । ४२ ॥

कर्मयोगसे उपासना । ईश्वर-स्थानमें करना ।
श्रीहरिका यह कहना । चौथेके अंतमें ॥ ४३ ॥

वहांसे जो एकादशाध्याय । पूर्ण होने तक धनंजय ।
कर्मसे ईश-भजन कार्य । कहा है सारा ॥ ४४ ॥

इन आठ अध्यायोंमें है स्पष्ट । देवताकांड किया है निर्दिष्ट ।
शास्त्रोंमें कहे गये सभी पट । खोले हैं यहां ॥ ४५ ॥

तथा यही ईश्वर-प्रसादसे । मिलता श्रीगुरु-संप्रदायसे ।
सच्चा अपरिपक्व ज्ञान जिसे । प्रतीत किया जान ॥ ४६ ॥

वही अद्वेष्टादि श्लोकोंमें । तथा अमानित्वादिकमें ।
परिपक्व किया ज्ञानमें । बारहवाका अंत ॥ ४७ ॥

वह बारहवाका अध्याय प्रथम । तथा पंद्रहवा अध्याय अंतिम ।
ज्ञान-फल-पाक सिद्ध निरुपम । है निरूपण ॥ ४८ ॥

इसीलिये इन चारमें । ऊर्ध्व-मूलांत अध्यायमें ।
ज्ञान-कांड इस स्थानमें । कहा गया है ॥ ४९ ॥

एवं कांडत्रय निरूपण । करता है जो श्रुति-वचन ।
गीता पद रत्नोंके भूषण । पहनते यहां ॥ १४५० ॥

कहने पर ये कांडत्रयात्मक । श्रुति मोक्ष-फल जो है एक ।
प्राप्त करना है यह आवश्यक । कहा गरजकर ॥ ५१ ॥

उसीके साधन ज्ञानसे । वैर करते जो सदासे ।
अज्ञान वर्ग है जो उसे । कहा सोलहवेमें ॥ ५२ ॥

शास्त्रोंके यहां इसी साथीको । साथ ले जीतना है शत्रूको ।
ऐसा वह संदेश सबको । देता सत्रहवां ॥ ५३ ॥

इसभांति है पहलेसे । सत्रहवें तक जो ऐसे ।
बखाने हैं स्पष्ट-रूपसे । स आत्म-विश्वास ॥ ५४ ॥

यह अर्थ जात संपूर्ण । किया तात्पर्य अर्थ-पूर्ण ।
अष्टादशमें निरूपण । कलशाध्याय जो ॥ ५५ ॥

ऐसा वह सकल सांख्य सिंधु । श्रीमद्भगवद्गीताका प्रबंध ।
सर्व-ज्ञान औदार्य-रूप वेद । मूर्तिमान है यह ॥ ५६ ॥

वेदोंकी कृपणता और गीताकी उदारता—

मूलमें हैं वेद अति संपन्न । किंतु हैं जो उतने ही कृपण ।
कानमें लगे मात्र तीन वर्ण । अन्योंसे दूर ॥ ५७ ॥

यहां भव-व्यथामें जो ग्रस्त । स्त्री शूद्र आदि प्राणि हैं व्यस्त ।
उन्हे अवसर न दें स्वस्थ । बैठे हैं वेद ॥ ५८ ॥

पीछेका यह व्यंग देख कर । उसको करनेमें अब दूर ।
प्रकाशमें आया है वेद-सार । गीताके रूपमें ॥ ५९ ॥

अर्थसे मनमें प्रवेश कर । श्रवणसे कानमें भरकर ।
पठनार्थ मुखमें घर कर । रहती है जो ॥ १४६० ॥

गीताका पाठ जो जानता । उसके साथ जो रहता ।
गीता लिखकर उठता । पुस्तक रूपसें ॥ ६१ ॥

ऐसा ऐसा निमित्त कर । संसारके चौराहे पर ।
डालते हैं अपरंपार अन्न छत्र वेद ॥ ६२ ॥

अंतरिक्षमें करने विहार । तथा बसने आ पृथ्वी पर ।
सर्व-दीप्तिके अन्य व्यवहार । चलते आकाशसे ॥ ६३ ॥

करते हैं जो गीता-तत्व सेवन । उनमें उत्तम अधम न मान ।
सबको कैवल्य-दान दे समान । विश्वको देती शांति ॥ ६४ ॥

पिछली निंदासे डरकर । वेद बैठे गीताके अंदर ।
अब पाते हैं कीर्ति सुंदर । गीतासे दिगंत ॥ ६५ ॥

इसीलिये वेदोंकी सुसेव्यता । वह जो यहां मूर्ति रूप है गीता ।
पार्थसे यहां श्रीकृष्ण कहता । उपदेशरूप ॥ ६६ ॥

बछियाके निमित्त जो क्षीर । मिलता है वह पीता घर ।
वैसे करता जगदुद्धार । पार्थके निमित्त ॥ ६७ ॥

करके चातकका निमित्त । दौडते मेघ पानीके साथ ।
तथा करते विश्वको शांत । उसी प्रकार ॥ ६८ ॥

अथवा अनन्य गति जो कमल । उसके लिये है सूर्य यथा काल ।
उदय होकर देता है सकल । सुख विश्वको ॥ ६९ ॥

वैसे अर्जुनको कर कारण । गीता प्रकाशित कर श्रीकृष्ण ।
दूर किया भार जन्म मरण । इस संसारका ॥ १४७० ॥

शास्त्र-रत्नोंकी दीप्ति सकल । तीनों लोकमें कर उज्ज्वल ।
कृष्ण-मुखाकाशमें निर्मल । शोभता गीता-सूर्य ॥ ७१ ॥

पित्र-कुल किया जो पवित्र । पार्थ इस ज्ञानका हो पात्र ।
जिसने किया गीता स्वतंत्र । विश्वका घर ॥ ७२ ॥

द्वैत स्थितिमें आकर गुरु-शिष्य संवाद—

फिर वह जगद्गुरु श्रीकृष्ण । पार्थका जो अद्वय मिलन ।
समेट लेता है उसी क्षण । द्वैत-स्थितिमें ॥ ७३ ॥

जब कहता है यहां श्रीकृष्ण । जीव करता क्या शास्त्र-ग्रहण ।
तब कहता है पार्थ श्रीकृष्ण । कृपा देवकी ॥ ७४ ॥

अजी ! पानेमें निधान । भाग्य लगता अर्जुन ।
भोगमें वह धन । उससे अधिक ॥ ७५ ॥

जैसे क्षीर-सागरके समान । न जमता जो दूधका बर्तन ।
सुर असुरोंको कैसे मंथन । करना पडा है ॥ ७६ ॥

उस प्रयत्नका भी आया फल । आंखोंसे देखा अमृत निर्मल ।
जतन करनेमें है सकल । गये चूक ॥ ७७ ॥

परोसा जो अमृतत्व पानेमें । कारण हुवा जो मृत्यु लानेमें ।
न जान कर भोग भोगनेमें । होता है ऐसा ॥ ७८ ॥

नहुष हुवा जो स्वर्गाधीश्वर । किंतु भूला वहांका व्यवहार ।
इससे सर्प हुवा पृथ्वीपर । जानता है तू ॥ ७९ ॥

तूने बहुत पुण्य किया । उससे आज धनंजया ।
सुननेमें सुपात्र भया । गीता-तत्व ॥ १४८० ॥

इस शास्त्रके धनुर्धर । संप्रदायको ओढ़कर ।
आचर तू शास्त्रानुसार । भली भांति ॥ ८१ ॥

नहीं तो अमृत-मंथन । वैसे होगा जान अर्जुन ।
यदि होगा अनुष्ठान । संप्रदाय छोड़ ॥ ८२ ॥

गाय मिली है भली भाग्यसे । किंतु दुहना आता है उसे ।
नहीं तो दूध मिलेगा कैसे । मिलकर भी व्यर्थ ॥ ८३ ॥

वैसे गुरु होकर प्रसन्न । शिष्यको देता है विद्या-दान ।
संप्रदाय-युक्त अनुष्ठान । करनेसे फलती है ॥ ८४ ॥

इसीलिये यहां धनंजय । गीता शास्त्रका जो संप्रदाय ।
कहता सुन इस समय । आदरसे तू ॥ ८५ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

यह इससे नहीं कहना चाहिये—

तुझे मिला यह जो पार्था । इसमें रखनेसे आस्था ।
तपोहीनको जो सर्वथा । कहना नहीं ॥ ८६ ॥

या तापस भी हुवा अर्जुन । किंतु है गुरु-भक्तिसे हीन ।
उनको वैसे ही दूर मान । जैसे अंत्यजको वेद ॥ ८७ ॥

अथवा पुरोडासु जैसा । मृगको नहीं देते वैसा ।
न दो गीता वैसे तापसा । गुरु-भक्तिहीन ॥ ८८ ॥

तथा तनसे जो है तपता । गुरु-देवको भी है भजता ।
किंतु जो सुनना न चाहता । उसको न कहना ॥ ८९ ॥

न है जिसे तपोभक्ति उसे न कह तू यह ।
ईर्षा जो करता मेरी न चाहता सुने इसे ॥ ६७ ॥

ऊपरके दोनों गुण । जिसमें है विद्यमान ।
करने गीता श्रवण । नहीं योग्य ॥ १४९० ॥

उत्तम है जैसे मुक्ताफल । उसमें नहीं रंध्र सरल ।
गुण-प्रवेश होंगे निर्मल । उसमें कैसे ॥ ९१ ॥

सागर होता अति गंभीर । कौन करता है अस्वीकार ।
व्यर्थ जाती वर्षा धनुर्धर । उसपे जो होती ॥ ९२ ॥

दिव्यान्न देकर तृप्तको । व्यर्थ करनेसे उसको ।
वही नहीं दें क्यों भूखेको । उदारतासे ॥ ९३ ॥

हो सुयोग्य वह कितना ही । सुननेमें जिसे प्रेम नहीं ।
उसको गीता कहना नहीं । किसी समय ॥ ९४ ॥

रूप-दर्शी है सुजान नयन । किंतु नहीं परिमलमें प्राण ।
उसको देना सुगंध अर्जुन । उपयोग क्या है ॥ ९५ ॥

इसीलिये तप और भक्ति । यह देखना सुभद्रापति ।
किंतु सुननेमें अनासक्ति । न कहना उसे ॥ ९६ ॥

जिसमें तप और भक्ति । सुननेमें भी अनुरक्ति ।
इतना देखकर भी संगती । धनुर्धर ॥ ९७ ॥

जो है गीता-शास्त्रका निर्माता । वह मैं सकल-लोक-शास्ता ।
उसको जो सामान्य मानता । अपने मनमें भी ॥ ९८ ॥

तथा देव और संतोंकी नित । करता रहता निंदाकी बात ।
उसको गीता सुननेमें पार्थ । नहीं मानो योग्य ॥ ९९ ॥

वैसे उनकी संपूर्ण । सामग्री योग्य है मान ।
किंतु वह दीप बिन । रहता है रातमें ॥ १५०० ॥

अंग गौर और तरुण । ऊपर पहना भूषण ।
किंतु नहीं उसमें प्राण । उपयोग क्या है ॥ १ ॥

सुवर्णका घर सुंदर । निर्माण किया धनुर्धर ।
किंतु है सर्पांगना द्वार । रोक बैठी है ॥ २ ॥

बनाया गया नाना विध पक्वान्न । उसमें मिलाया कालकूट मान ।
अथवा छल भरी मैत्री अर्जुन । रहती है जैसे ॥ ३ ॥

वैसे तप भक्ति मेधा । उसकी जान प्रबुद्धा ।
करता जो मेरी निंदा । तथा मद्भक्तोंकी ॥ ४ ॥

इसी कारण तू पांडुकुमार । भक्त तपी मेधावी होनेपर ।
गीता उसको त्याज्य मान कर । न कह तू बाबा ॥ ५ ॥

क्या कहूं यदि वह निंदक । योग्य है सृष्टिकर्ता सरीखा ।
गीता-ग्रंथ यह सकौतुक । न दे उसको ॥ ६ ॥

तभी है तपका धनुर्धर । पत्थरका बाडा बना कर ।
रचा गुरु-भक्तिका सुंदर । प्रासाद जिसने ॥ ७ ॥

वैसे ही श्रवणेच्छा द्वार । खुला रखना चारों प्रहर ।
फिर रचा कलश सुंदर । अनिंदा रत्नका ॥ ८ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

मेरे भक्तोंसे जो यह गीता कहेगा वह मद्रूप होगा—

देख ऐसा भक्तालय सुंदर । प्रतिष्ठा कर वहां गीतेश्वर ।
तुलेगा तू मेरे समान फिर । इस विश्वमें निश्चित ॥ ९ ॥

क्यों कि जो एकाक्षरपनमें । तीन मात्राओंके उदरमें ।
फंसाया वहां गर्भ-वासमें । यह प्रणव ॥ १५१० ॥

वह वेद-बीज जो ओंकार । गीता विस्तारसे फैलकर ।
या गायत्री फल-फूलकर । आयी है श्लोकोंमें ॥ ११ ॥

यह जो मंत्र-रहस्य गीता । मेरे भक्तोंसे जो है कहता ।
अनन्य शिशुको जैसे माता । देती है जीव ॥ १२ ॥

कहेगा गूढ जो श्रेष्ठ मेरे भक्त-गणों सह ।
उसी परम भक्ती से मिलेगा मुझमें वह ॥ ६८ ॥

वैसे भक्तोंको जो गीतासे । परिचय कराता ऐसे ।
देह-पातपे है मुझसे । मिलता वह ॥ १३ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

उसे मैं अपना हृदय-सिंहासन देता हूं—

अथवा ले शरीरका भूषण । लेकर रहता है भिन्न जान ।
तब भी मेरा यह जीव प्राण । जान तू पार्थ ॥ १४ ॥

ज्ञानी कर्मठ तापस । जो है ये मेरे मानस ।
इनमें वह विशेष । प्रिय है मेरा ॥ १५ ॥

भूतल पर ऐसे संपूर्ण । अन्य कोई नहीं है अर्जुन ।
गीता कहता जो भक्त-जन- । मेलेमें मेरे ॥ १६ ॥

धरके मुझ ईश्वरका लोभ । गीता कहता है जो हो अक्षय ।
वह भूषण होता है सुलभ । संत-समाजका ॥ १७ ॥

नव-पल्लवोंसा रोमांचित । तथा मंदानिलसा कंपित ।
आमोद-जलसा हो द्रवित । पुष्य-नयन जैसे ॥ १८ ॥

कोकिल कल- रव वत । सगद्गद करके बात ।
मद्भक्तोद्यानमें वसंत । करता प्रवेश ॥ १९ ॥

सफल जन्म माने जैसे चकोर । वैसे उदित होता शशि अंबर ।
या नव-मेघ आते सुन पुकार । मयूरके जैसे ॥ १५२० ॥

वैसे सज्जनोंके मेलेमें जाकर । गीता पद रत्नोंका बरखा कर ।
मेरे स्वरूप प्राप्तिकी हेतु भर । रख अपनेमें ॥ २१ ॥

तब उससे मेरा कोई प्रिय । नहीं दीखता मुझे धनंजय ।
मेरे भक्तोंके सारे समुदाय । मध्यमें और ॥ २२ ॥

कोई मेरा नहीं पार्थ उससे बढके प्रिय ।
वैसे ही न कभी होगा जगमें उससे प्रिय ॥ ६९ ॥

क्या कहूं मैं तुझे अब अर्जुन । संतोंको देता जो गीता भोजन ।
देता हूं मैं उसको सिंहासन । मेरे अंतःकरणका ॥ २३ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

मेरा तेरा यह जो मिलन । जिससे बढ़ा यह कथन ।
खिला मोक्ष-धर्मका जीवन । जिस स्थानपे ॥ २४ ॥

यह जो सकालार्थ प्रद । हम दोनोंका है संवाद ।
नहीं करके पद-भेद । करना आवर्तन ॥ २५ ॥

उस ज्ञानाग्निमें जो है प्रदीप्त । मूल अविद्या-आहुति दे पार्थ ।
किया है मुझको संतोषित । परमात्मा मैं ॥ २६ ॥

करने गीतार्थ विवेचन । ज्ञानियोंमें जो है बुद्धिमान ।
प्राप्त होते हैं कर पठन । ब्रह्म-रूप यह ॥ २७ ॥

गीता पाठकको भी ऐसे । फल अर्थज्ञको है जैसे ।
गीता-मातामें भेद ऐसे । न है छोटे बडेका ॥ २८ ॥

श्रद्धावाननसूयश्शृणुयादापि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

तथा सभी मार्गमें निंदा । छोड़कर आस्थामें शुद्ध ।
गीता श्रवणमें ही श्रद्धा । रखता है जो ॥ २९ ॥

करेंगे जब उनके कान । गीताके अक्षरोंका श्रवण ।
करेंगे दुरित पलायन । उसी समय ॥ १५३० ॥

वनमें होते ही अग्निका प्रवेश । वहां करते जो पशु-पक्षी वास ।
छोड दौड़ते हैं दिशाएं दस । मिलती जहां राह ॥ ३१ ॥

यह जो धर्म-संवाद अभ्यासेंगे जहां कहीं ।
मानता पूजते हैं वे मुझको ज्ञान-यज्ञसे ॥ ७० ॥
सुनेगा यह जो कोई श्रद्धासे द्वेष छोडके ।
पायेगा कर्म-पूतोंकी मुक्त हो वह सद्गती ॥ ७१ ॥

अथवा जैसे उदयाचल पर । झलकते ही रवि-किरणके हार ।
खो जाता है अंतरालमें तिमिर । उसी भांति ॥ ३२ ॥

वैसे ही कर्णोंके महाद्वार । सुनते हैं गीताका गजर ।
मिटता है सभी पाप भार । सृष्ट्यादिका भी ॥ ३३ ॥

इससे भावी जन्म सर्वत्र । होते जाते हैं अति पवित्र ।
इससे अन्य ऐसे हैं अत्र । भारी पुण्य ॥ ३४ ॥

तथा इस गीताके हैं अक्षर । कानोंसे जाके हृदय-गव्हर ।
उतने ही करते हैं जो पूर । अश्वमेध याग ॥ ३५ ॥

तभी है श्रवणसे पाप हरता । वैसे ही धर्मको उन्नत करता ।
इससे स्वर्गका राज्य है मिलता । अंतमें जो ॥ ३६ ॥

मेरे पास आनेमें अर्जुन । स्वर्ग है पहला ही सदन ।
उसको भोग फिर सज्जन । मिलते मुझमें ही ॥ ३७ ॥

इस प्रकार गीता पार्था । जो सुनता और पढ़ता ।
उसे ब्रह्मानंद मिलता । मेरे रूपका ॥ ३८ ॥

यह सारा रहने दे पार्थ । किस लिये तुझे कही गीता ।
उसका क्या हुवा है स्पष्टता । कह तू मुझे ॥ ३९ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसः ।
कच्चिदज्ञानसमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

सुन कर स्व-अज्ञान जन्य मोह दूर हुवा क्या—

तो तू मुझसे कह अर्जुन । यह शास्त्र-सिद्धांत संपूर्ण ।
किया न चित्त देके श्रवण । जीवभावसे ॥ १५४० ॥

हमने यहां जैसे जिस भांति । कानोंको दी है गीताकी संपत्ति ।
कानोंसे वह हृदयमें पूर्ति । रोपी है न ? ॥ ४१ ॥

इसे तूने सुना है न पूरा एकाग्र चित्तसे ।
अज्ञान रूप जो तेरा मिटा क्या मोह मूलता ॥ ७२ ॥

अथवा वह बीचमें । गिरा फैला है व्यर्थमें ।
या वैसे ही उपेक्षामें । दिया छोड़ ॥ ४२ ॥

या मैंने जैसे कथन किया । हृदयमें वैसे रोपन भया ।
मुझसे कह तू धनंजया । पूछता हूं मैं ॥ ४३ ॥

था जो स्व-अज्ञान जनित । मोहमें हो चित्त भ्रमित ।
कर्माकर्म-मोहकी बात । रही क्या अब ॥ ४४ ॥

यह सब भला मैं क्यों पूछा । यह मैं करता या न करता ।
यह अपने हाथमें मानता । क्या तू अब भी ॥ ४५ ॥

स्वानंदैक्य इसमें पार्थ । गलेगा मान कर द्वैत ।
भावमें लाता लक्ष्मीनाथ । प्रश्न करके ॥ ४६ ॥

अर्जुनका समरसैक्यसे द्वैतमें अवतरण—

पूर्ण-ब्रह्म हुवा है पार्थ । अगला कार्य साधनार्थ ।
नहीं होने देता श्रीकांत । मर्यादा भंग ॥ ४७ ॥

स्वयं वैसे जो करता । सर्वज्ञ क्या नहीं जानता ।
किंतु श्रीकृष्ण है पूछता । सकारण ही ॥ ४८ ॥

ऐसे करके वह प्रश्न । लुप्त-प्राय अर्जुनपन ।
पूर्णत्वसे लाके कथन । कराता है अब ॥ ४९ ॥

वैसे क्षीराब्धि तटपर । नभमें बैठा रश्मिकर ।
अभिन्न हो भिन्न होकर । दीखता पूर्णचंद्र ॥ १५५० ॥

वैसे ब्रह्म मैं यह भूलता । ब्रह्मसे विश्व ही भरता ।
यह भी भूल सहज होता । स्वयं ब्रह्मत्व ॥ ५१ ॥

भूलता स्मरता ऐसे ब्रह्मत्व । देह दुख सीमापे मान तत्व ।
अर्जुन मैं ऐसा नाम-रूपत्व । लेके खडा रहा ॥ ५२ ॥

फिर वह कंपित करतल । दबाकर कुछ रोमांच-मूल ।
अपने आपमें ही स्वेद जल । पचा करके ॥ ५३ ॥

उलझा था मैं अर्जुनपनसे । मुक्त हुवा हूं समरसैक्यसे ।
अब कहना पूछना जो ऐसे । नहीं रहा कुछ ॥ ६३ ॥

अब मैं तेरे ही प्रसादसे । प्राप्त जो इस आत्मबोधसे ।
मोहको सब मूल रूपसे । भूल गया हूं ॥ ६४ ॥

तेरे बिना भिन्न कुछ न होनेसे संदेह भी नहीं रहा—

अब करना या नहीं करना । रहता यह कैसे द्वैत-स्थान ।
वह न रहा तेरे बिन भिन्न । कहीं भी यहां ॥ ६५ ॥

इस विषयमें मुझमें कहीं । संदेहका नाम तक भी नहीं ।
त्रिशुद्धि-पूर्वक कर्म है नहीं । वह मैं हुवा आज ॥ ६६ ॥

तुझसे पाकर स्व-स्वरूप । कर्तव्य मिटा है पूर्ण रूप ।
अब रहा है आज्ञाके रूप । करना सारा ॥ ६७ ॥

क्यों कि जो दृश्य दृश्यको नाशता । तथा जो द्वैत द्वैतको ग्रासता ।
एक ही एक सर्वत्र वसता । सर्वकाल ॥ ६८ ॥

जिस संबंधसे बंधुत्व मिटता । जिसके लोभसे लोभही टूटता ।
मिलनेसे जो सब ही मिल जाता । अपनेमें आप ॥ ६९ ॥

वह जो गुरु-लिंग तू मेरा । एकत्वको जो पोसता है सारा ।
उसके लिये कहते हैं पूरा । अद्वय बोध ॥ १५७० ॥

स्वयं आप ही हो कर ब्रह्म । दूर कर कृत्याकृत्य कर्म ।
फिर करना जो निःसीम । सेवा जिसकी ॥ ७१ ॥

सिंधुसे गंगा मिलने गयी । मिलते ही समुद्र हो गयी ।
वैसे भक्तोंको सेवा हो गयी । जिस पदकी आज ॥ ७२ ॥

वह तू मेरा निरुपचार । श्रीकृष्ण सेव्य जगदीश्वर ।
मानता ब्रह्मत्व उपकार । ऐसा है तो ॥ ७३ ॥

हम दोनोंमें जो आड़ । था जो भेदका किवाड़ ।
दूर कर दिया गोड़ । सेवाके रूपमें ॥ ७४ ॥

तब अब होती जो आज्ञा । सकल देवाधिदेवराज्ञा ।
मान करूंगा हेतु अनुज्ञा । किसी भी बातकी ॥ ७५ ॥

सुन अर्जुनके यह बोल । नाचता देव सुखसे भूल ।
कहता फला विश्वका फल । अर्जुन रूपसे ॥ ७६ ॥

खिला हुवा पूर्ण सुधाकर । देख अपना यह कुमार ।
सीमा भूलके क्षीर सागर । बढ़ता जैसे ॥ ७७ ॥

ऐसे संवादकी वेदी पर । दोनोंका भावैक्य देखकर ।
आया महदानंदसे भर । संजय हृदय ॥ ७८ ॥

ऐसे हृदयानंदातिशयसे । कहता संजय धृतराष्ट्रसे ।
बादरायणकी कृपासे कैसे । उद्धार हुए हम ॥ ७९ ॥

अजी आज आपने जो अवधारा । नहीं चर्म-चक्षुभी जो संसारा ।
किंतु ज्ञान दृष्टिके हैं व्यवहार । जानलिये जो ॥ १५८० ॥

रथमें लगते हैं जो घोडे । उन्हे लेने हमें रख छोडे ।
किंतु आज हुवा खडे खडे । ज्ञानबोध ॥ ८१ ॥

तथा युद्धका जो निर्वाण । होता है अत्यंत दारुण ।
दोनोंकी हार होगी समान । अपनी ही ॥ ८२ ॥

व्यासकी ऐसी कृपा महान । जहां युद्धसा कष्ट दारुण ।
वहां ब्रह्मानंद निरावरण । देते हैं सहज ॥ ८३ ॥

संजय कहता है यहां ऐसे । राजा कुछ भी न हुवा जैसे ।
तटस्थ रहा पाषाण जैसे । न द्रवता चंदनीमें ॥ ८४ ॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजयने कहा

जो कृष्णार्जुनका ऐसा हुवा संवाद अद्भुत ।
सुना मैंने बडोंसे जो खिलाता रोमरोमको ॥ ७४ ॥

प्राण-क्षोभसे डुलता हुवा । अंग अंगसे संभाला हुवा ।
हल चल सब भूला हुवा । खडा सूना स्तंबसा ॥ ५४ ॥

नेत्र-युगलसे बहते । आनंदामृतसे झरते ।
आंसुओंको जो संभालते । अति कष्टसे ॥ ५५ ॥

विविध औत्सुक्यका भार । भरा था गलेमें आकर ।
उसको कुछ दबाकर । हृदयमें तब ॥ ५६ ॥

वाचाका द्रवना । प्राण संभालना ।
अक्रम श्वासन । सुचारुकर ॥ ५७ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्वसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

तेरा दर्शन सब कुछ देता है—

अर्जुन कहता यह क्या देव । पूछता क्या रहा अब भी मोह ।
गया वह स-कुटुंब छोड ठाव । लेकर सब साथ ॥ ५८ ॥

पास आकरके दिनकर । पूछता आ आंखोंसे अंधार ।
दीखता क्या कहो किसी ओर । दीखेगा क्या वह ॥ ५९ ॥

ऐसा है तू श्रीकृष्ण । हमें देता दर्शन ।
क्या न देगा दर्शन । यही हमको ॥ १५६० ॥

फिर प्रेमसे माताके समान । कहता है बोध पूर्ण वचन ।
किसी उपायसे न होता ज्ञान । उस विषयमें ॥ ६१ ॥

और पूछता मोह है या नहीं । ऐसा यह पूछना रहा कहीं ।
कृतकृत्य हुवा मैं मुझमें ही । तेरे ही रूपसे ॥ ६२ ॥

अर्जुनने कहा

मिटा है मोह तो देव कृपासे बोध भी हुवा ।
हुवा निःशंक मैं आज करुंगा जो कहा मुझे ॥ ७३ ॥